हिन्दी

शीराज़ा

जे० एंड के० अकादमी ऑफ़ आर्ट कल्चर एंड लैंग्वेजिज़, जम्मू

द्विमासिक **शीराज़ा** हिन्दी

वर्ष : २३ जून-जुलाई—१९८७ अंक : २

पूर्णांक—८६ फोन नं०—५८५३

विषय अनुक्रम

प्रमुख सम्पादक
मुहम्मद यूसुफ़ टेंग

सम्पादक
ओम गोस्वामी

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार—सम्पादक—शीराज़ा हिन्दी, जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, केनाल रोड, जम्मू तवी—१८०००१

सम्पादकीय

ज़िन्दगी और कहानी : कुछ बुनियादी प्रश्न

कहानी की सामाजिक भूमिका क्या है ?

कहानी और ज़िन्दगी का परस्पर सम्बन्ध परिभाषित करने की अभिलाषा में एक लम्बी बहस का आगाज हो जाता है और अन्त में प्रश्न वहीं का वहीं टिका रहता है कि कहानी ज़िन्दगी से जितना लेती है क्या वह साहित्यिक विधा के रूप में जीवन पर उतना प्रभाव भी डाल पाती है। जीवन स्थितियों को प्रभावित करने की क्षमता के प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध न होने पर भी यह स्पष्ट है कि वैचारिक धरातल पर यह पाठक को अवश्य ही प्रभावित करती है । इतना ही नहीं, साहित्य की समग्र परिव्याप्ति में रहते हुये कहानी पाठकीय रुचियों के परिमार्जन में भी सहायक होती आई है। कहानी में चित्रित स्थितियां व्यावहारिक स्तर पर जीवन को किस तरह और कितना प्रभावित कर पाती हैं, इसे मापने वाला बैरोमीटर वस्तुत: कहीं-नहीं है। अतएव आज के युग में कहानी, परिवर्तित होते हुये सामाजिक ढाँचे को, बदलते हुये जीवन मूल्यों को उरेह कर उस संक्रांतिक दौर को रेखांकित कर रही है, जिसमें हर व्यक्ति परिवर्तन की कामना में हताश हुआ जा रहा है। सामाजिक ढाँचे की चरमराहट से उभरती समस्याएं और उनका कथांकन ही अपने आप में परिवर्तन की कामना का द्योतक है।

कहानी के सामाजिक सरोकार से इन्कारी होने वाले इसे मनस्तोष की एक शैली मात्र मानकर इनके महत्व को कम करके आँकने के पूर्वाग्रह से पीड़ित हैं। "ज्ञान-चक्षुओं को खुला रखने वाले व्यक्ति को कल्पना की भूल-भुलैयां में भटकने की आवश्यकता नहीं।" पाब्लो नेरूदा का यह कथन साहित्य और साहित्य दृष्टि के संदर्भ में तथ्यों को समझने में एक सार्थक संकेत है । साहित्य का प्रयोजन हमारे अनुभव को विस्तार देना, साहित्य में रूपायित यथार्थ का भावनात्मक स्तर पर सहयात्री बनना और पठन द्वारा सहभोक्ता बनना भी है। इसलिए आज की कहानी का फलक अधिक व्यापक और प्रामाणिक है। यदि नयी-पुरानी कहानियों को उनके कथात्मक रचाव की दृष्टि से परखें तो कुछ मुख्य बातें हमारे समक्ष इस तरह स्पष्ट होती हैं—

१. ऐसी कहानियां जो जीवन का यथातथ्य चित्रण करती हैं।

२. और ऐसी जिनमें जीवन से सम्बद्ध कथा-भूमि को लेखक निजी दृष्टि प्रदान करता है । वह अपने वर्णन को पूर्व निर्धारित परिणति तक पहुँचाता है। कमोबेश इसमें यथार्थवाद और भावुकतावाद दोनों दृष्टियों का संगम दिखाई देता है।

३. ऐसी कहानियां जिनमें परिवर्तन के लिए छटपटाहट एक सन्देश की तरह निहित है।

कहानी जीवन का एक गहन अनुभव है, जिसे कहानीकार दूसरों से सांझा करना चाहता है। इसलिए किन्हीं कहानियों से लेखक सहभोक्ता के स्तर पर सम्बद्ध है तो किन्हीं में चरित्रों एवं स्थितियों के अध्ययन द्वारा जुड़ा हुआ दीखता है । कथा-यात्रा के प्रथम दौर में लिखी गई बहुत-सी कहानियां ऐसी हैं जो अनुभव परक न हों, कल्पना पर आधारित हैं। उनका उत्प्रेरक जीवन सागर नहीं, बन्द कमरा है। इसलिए आज जो कहानी लिखी जा रही है वह पुरानी कहानी से न केवल प्रयोजन की दृष्टि से अलग है, बल्कि इसकी सृजनात्मक विचार-भूमि भी अलग है। इसमें हमारे युग की सच्चाइयां परछाईं रूप में नहीं, समग्र यथार्थ के रूप में रूपायित हो रही हैं।

□ ओम गोस्वामी

आत्मकथ्य

जलते हुए दिन

□ रामदरश मिश्र

साल बीत गया। विशारद की परीक्षा पास कर ली। बरहज़ मेरे लिए उसी तरह शुष्क बना रहा। गर्मी की छुट्टियों में घर रहा। जुलाई आते ही साहित्य रत्न पढ़ने के लिए बरहज रवाना हो गया। कपिलदेव साहित्य रत्न करने नहीं गये, घर पर ही रह गये। वह साल उन्होंने घर पर ही काटा। उस साल घर जाने पर लोग कहते कि कपिलदेव तो भैंस वार हो गये हैं। वे भैंस की पीठ पर बैठकर हाथ में लाठी लिए घूमते हैं। मुझे भी लगा कि उनका मन पढ़ने से उचट गया है या कि विशारद करने के बाद उन्हें कोई लक्ष्य नहीं दिखाई पड़ रहा है। बहरहाल मैं अकेला ही बरहज गया। कपिलदेव का साथ छूट जाने से बरहज यात्रा का अकेलापन और डंसने लगा।

इस बार बरहज के लिए निकला तो हल्की-हल्की झींसी पड़ रही थी। रात खूब पानी बरसा था। गांव से निकलते ही खलिहान वाले पाकड़ के नीचे एक बड़ा-सा सांप दिखाई पड़ा जो या तो आलसी किस्म का सांप था या पानी से भीग कर सुस्त पड़ गया था। यात्रा की शुरुआत सांप से ही होनी थी, मन में एक भय समा गया। कछार की कीचड़-पानी से भरी हुई भूमि पार करता, सिर पर एक भीगा दिन लादे हुए, मन में फिर घर छूटने की उदासी भरे हुए बरहज की ओर चला जा रहा था। बुरी तरह थक गया था और शाम भी गहरा गयी थी इसलिए बरहज से दो मील पहले स्थित परसिया गाँव में रुक गया। वहां मेरी चचेरी बहन व्याही हुई थी। वहीं रुक गया। वैसे मुझे अपने ही सम्बन्धियों के यहाँ जाने में संकोच होता है वे तो दूर के पट्टीदार की बहन थीं। किन्तु बाहर भीतर से इतना थक गया था कि रुकने के सिवा कोई चारा नहीं था।

खा-पीकर बरामदे में सोया। हल्का-हल्का पानी पड़ रहा था। रात को लगा कि खाट पर मेरी बगल में मेंढक रिरिया रहा है। कुछ देर तक सुनता रहा, फिर सिर घुमाकर

देखा। मेरे तो होश उड़ गये। मेरी बगल में एक सांप था, वह एक मेंढ़क को दबोचे था। मेंढक रिरिया रहा था। मैं झटके से दूसरी ओर उतर गया और बोला—"सांप सांप।" मेरे चचेरे बहनोई पास की खाट पर सोये थे और अन्य खाटों पर बच्चे सोये थे। वे झटके से उठे और सारे बच्चों की बांह पकड़-पकड़ कर नीचे फैंकने लगे। साथ-साथ चिल्लाते गये—"भागो रे भागो सांप।" हम सभी रिमझिम बारिश के तले बाहर खड़े थे और टार्च से सांप की खोज होती रही। इतनी आहट में सांप कहां रुकता? वह पास के भुसौले में चला गया होगा। वह कहीं दिखाई नहीं पड़ा। मुझे लगा कि अब सभी लोग मुझे अविश्वास से देख रहे हैं। लोगों ने कहा—"तुम्हें भ्रम हुआ होगा।" अब उन्हें क्या समझाता जो चीज़ मैंने स्वयं अपनी आँख से देखी है उसके बारे में भ्रम कैसा? यह भावना का प्रश्न तो था नहीं, यह तो मूर्त वस्तु थी जिसे मैंने स्वयं देखा था। अविश्वास से सत्य की टकराहट बड़ी यातनाप्रद होती है। इस यातना को लिए दिए मैं फिर ओसारे में लेटा यहां और लोग लेटे थे। नींद किसी को नहीं आ रही थी। सभी लोग सांप में अविश्वास करके भी सांप से डरे हुए थे, मैं सांप को देखकर तो डरा ही हुआ था लोगों के अविश्वास की चोट भी सोने नहीं दें रही थी।

सुबह हुई। मुझे ज्ञात था कि उस गांव में मेरी मौसी भी थीं—सगी मौसी। रामनिहोरा जी से उनके बारे में पूछा तो बोले—"हां हैं तो मिलना चाहोगे?"

मेरी मां बहुत याद आ रही थीं। मुझे लगा कि मौसी की आंखों में शायद मां की आंखें दिखाई पड़ जायें और गृहता का कुछ सन्तोष मिल जाये। इसलिए मौसी से मिलने की तड़प भीतर जाग उठी थी। मैंने कहा—"हां मिलना चाहूंगा।"

"वे लोग बहुत गरीब हैं।"

"तो क्या हुआ?"

"चलो।"

उनके साथ मौसी के घर पहुंचा। वे एक टूटी-फूटी झोंपड़ी के सामने खड़े हो गये और आवाज़ लगायी—"चाची।"

एक औरत बाहर निकली। उसके शरीर पर साड़ी के नाम पर साड़ी के चिथड़े थे। मैंने देखा—मुंह हूबहू माँ के मुंह की तरह, आंखों में वही तरलता लेकिन जब तक मैं कुछ कहूं वह औरत एक अजनबी को देखकर भीतर की ओर भाग गयी। रामनिहोरा पहुना चिल्लाये—"अरे चाची, यह तुम्हारा बेटा है। तुम्हारी बड़ी बहन के पुत्र।"

मौसी ने भीतर से सुन लिया था। वह अपेक्षाकृत एक ठीक-ठाक साड़ी पहनकर बाहर आयीं तो मैंने प्रणाम किया। हम एक खाट पर बैठ गये। मौसी नीचे ही एक पीढ़े पर बैठ गयीं। "क्या हालचाल हैं बहन के?" उन्होंने पूछा।

"अच्छा है। मां आपको बहुत याद करती हैं। कहती हैं—आप उसकी बहुत लाडली छोटी बहन थीं। कहती हैं बहुत दिन से भेंट नहीं हुई।"

मौसी मेरे सामने ज़रूर बैठी थीं लेकिन उनकी आंखें अपनी अफाट गरीबी के कारण संकुचित हो रही थीं, उनमें गहरी दयनीयता भरी हुई थी जिसका साक्षात्कार करना कठिन हो रहा था। उनकी आंखें भर आयीं, चेहरा पिघल कर चूने लगा।

"बहुत दिन हो गये बहन से मिले हुए। विवाह के बाद तो कभी भेंट ही नहीं हुई। लगता है अब भेंट होगी भी नहीं।"

मौसी चुप रहीं फिर बोलीं—"कहां से भेंट हो, एक बार जो ससुराल आयी, नइहर जाने की नौबत ही नहीं आयी। नइहर वालों ने कभी बुलाया ही नहीं। उन्होंने कभी कभार तर-त्योहारी भिजवा दी लेकिन···वे रोने लगीं। फिर फफकती हुई आवाज में बोलीं—मेरे लिए तो नइहर वाले मर गये।"

मुझे लगा कि मौसी नहीं, सारे गाँवों की बेटियाँ मेरे सामने बैठी रो रही हैं। लोग अपनी गरीबीवश या लड़की जाति के प्रति उपेक्षा भाव वश लड़की को ससुराल में ठेल कर उसके प्रति अपने कर्त्तव्य और प्रेम की इतिश्री समझ लेते हैं। शुरू-शुरू में रसम अदायगी के लिए शादी-व्याह के अवसर पर बुला लेते हैं फिर वह भी नहीं करते। उसे अपनी ससुराल में अपने भाग्य पर मरने-जीने के लिए छोड़ देते हैं। बहुत कम लड़कियां शादी के बाद नइहर का सतत प्यार पाने का सौभाग्य पाती हैं। मेरी मां ऐसी ही लड़कियों में थी। उसे मायके का खूब प्यार मिला था और मिलता रहा था। शायद उसका अपना स्वभाव रहा हो, अपने गुण-ढंग रहे हों। मां खुद बताती है कि उसकी बहनों को कभी नहीं बुलाया गया। कभी बुलाया भी गया तो वे अमर्ष-वश गयी नहीं। वे कहां हैं, किस हाल में हैं इसका पता मां को भी नहीं है। शादी-व्याह तीज-त्योहार आदि के अवसरों पर केवल वह ही बुलायी जाती थी या प्यार के अधिकार से स्वयं ही चली जाती थी। उसे अपनी बहनों से मिलने का कभी अवसर ही नहीं मिला। अपनी बहनों को वह बहुत प्यार और दर्द से याद करती थीं। कैसा लगता होगा यदि बहन-बहन से, भाई-भाई से एक बार बिछुड़ने के बाद मिले ही नहीं। बचपन की साथ-साथ खेल-कूद, खान-पान की दुनिया, प्यार-झगड़े, मान-मनुहार का संसार, एक गहमागहमी का वातावरण एकाएक छिन जाये और मात्र स्मृतियां शेष रह जायें।

"ऐ बाबू!" मौसी ने पुकारा। शायद अपने बेटे को पुकारा हो।

पन्द्रह सोलह साल का एक लड़का बाहर आया। वही हुलिया, उसके पूरे अस्तित्व से अभाव बरस रहा था।

"बाबू तुम्हारे भइया हैं इन्हें पैलगी करो और कुछ पानी वोनी पीने को लाओ।"

उस लड़के ने मुझे पैलगी की और एक क्षण संकोच से ठिठका रहा।

"नहीं मौसी, अभी तो रामनिहोरा पहुना के यहां से जलपान करके निकला हूँ। पानी वोनी पीने की इच्छा अब नहीं है। बस आपको देखने की बड़ी इच्छा थी मां ने भी कहा था कि मिल लेना। आप से मिल लिया अब चलता हूं।" कहकर मैं उठ गया।

मौसी ने आग्रह नहीं किया। आग्रह करने के लिए उनके पास था क्या? शायद घर में गुड़ की डली भी नहीं रही होगी इसलिए तो हमें सुनाकर अपने बेटे से कहा था कि पानी पीने के लिए कुछ लाओ। यदि हम चुप होकर बैठते तो लड़का चुपचाप अनाज लेकर बनिया के यहां जाता और वहां से गुड़ लाता और पता नहीं मौसी के घर में अनाज भी था कि नहीं।

मैं परसिया से चलकर बरहज जा पहुंचा। बरसात के भारीपन में मौसी के अभाव का भारीपन मिल गया था। मन न जाने कैसा-कैसा हो रहा था।

× × × × × ×

साहित्यरत्न की पढ़ाई शुरू हो गयी थी। भीतर से कोई स्फूर्ति अनुभव नहीं कर रहा था। बस सब कुछ ज्यों ही चल रहा था। जी लग नहीं रहा था। बरहज से तीन

मील दूर कटियारी गांव है। वहां चचेरे भाई ब्रजनाथ की बहन व्याही हुई थी। एक दिन शाम को वहीं चला गया। बहुत भले लोग हैं। वहां जाकर घर जैसा ही लगता है। एक दिन वहां रह कर बरहज लौटा तो कस्बे के चौराहे पर एक भीड़ देखी। नारे लग रहे थे—गाँधी जी की जय, जवाहरलाल नेहरू की जय। इन्कलाब जिन्दाबाद—इन्कलाब जिन्दाबाद। कुछ युवक नेता भाषण दे रहे थे। मैं अचकचाया-सा वहां खड़ा हो गया। किसी से पूछा—"भाई क्या हो गया?" मालूम हुआ क्रान्ति हो गयी है। सारे नेताओं को सरकार ने जेल में डाल दिया है और अब छात्रों ने विद्रोह कर दिया है। क्रान्ति हो गयी है ९ अगस्त १९४२ की क्रान्ति।

भीड़ बढ़ती जा रही थी। वातावरण और भी गरम होता जा रहा था। इन्कलाब ज़िन्दाबाद की आवाज़ें आकाश में समुद्र की तरह हहरा रही थीं। आग उगलते भाषण पर भाषण हो रहे थे। मुझे किसी ने पुकार दिया। मैं भी चबूतरे वाले मंच पर खड़ा हो गया और 'तिमिर घनेरा हिन्द मेरा भी तजेगा अब' वाली कविता गरज गरज कर सुनाई। तालियां बजीं।

फिर भीड़ स्टेशन की ओर बढ़ी। स्टेशन की तोड़-फोड़ होने लगी, खंभों पर के तार काटे जाने लगे। चारों और टूटे हुए शीशे, टूटे हुए तार भागते हुए सरकारी कर्मचारी, बिखरे हुए कागज़, टिकट, कुर्सियां, मेज़......फिर धुंआं उठा, स्टेशन धू-धू कर जलने लगा। उधर स्टेशन की आग, इधर भीड़ के भीतर की आग, आग भरा शोर......। सारा वातावरण गुस्से, उत्साह और दहशत से बज रहा था।

भीड़ किंग जार्ज स्कूल की ओर बढ़ी। शोर हुआ – क्लास बंद करो। क्लास बंद नहीं हुई। प्रिंसिपल और कुछ शिक्षकों ने प्रतिरोध किया। फिर क्या था—हो गयी तोड़-फोड़ शुरू। जंगलों के शीशे टूटे, कुर्सियां टूटीं, दरवाज़े टूटे और क्लास के लड़के हो हो करते हुए भीड़ में मिल गये।

भीड़ श्रीकृष्ण स्कूल की ओर बढ़ी। भीड़ के दवाव से पूर्व ही हिन्दी शिक्षक श्री राजकिशोर पांडेय बोल पड़े—इन्कलाब जिन्दाबाद और अपने छात्रों के साथ बाहर निकल आये। भीड़ खुश हो गयी। देखा देखी और भी छात्र और शिक्षक निकल आये। वैसे श्रीकृष्ण स्कूल वावा राघवदास का था जो प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता भी थे और इस समय जेल में थे। इसलिए उसके और किंग जार्ज स्कूल के स्वभाव में अन्तर होना ही था।

भीड़ थाने की ओर चली। थाना सरयू के किनारे कस्बे के एकदम दक्षिण में स्थित है। अतः थाने पर पहुंचने की प्रक्रिया में भीड़ पूरे कस्बे को आन्दोलित करती गयी और उसके क्रांतिकारी तत्वों को अपने में समेटती गयी। थाने के ऊपर एक लड़के ने तिरंगा लहरा दिया। उसके आगे सभा होने लगी। छात्र नेताओं के भाषण होने लगे। पुलिस विवश-सी भीतर से देखती रही। शायद उसे अभी ऊपर से कोई आदेश नहीं मिला था और इस समय कुछ भी करने का मतलब था थाने की तबाही, जान की तबाही। इसलिए ब्रिटिश राज्य की खूंखार पुलिस एक विवश चुप्पी धारण किये थी। इसके बावजूद जब कभी पुलिस में कोई सहज हरकत भी होती थी तो भीड़ चौकन्नी हो उठती थी कि गोली न चल जाये।

वह मेरे जीवन का अद्भुत दिन था—जलता हुआ दिन, जलाता हुआ दिन, टूटता हुआ दिन, तोड़ता हुआ दिन खामोश दिन, शोर करता हुआ दिन, जेलों में बंद दिन, सड़कों

पर उमड़ता हुआ दिन। लगता था आज़ादी मिल गयी है। इस जन-जागृति के आगे अब ब्रिटिश राज्य स्थिर नहीं रह सकता। न किसी को खाने की सुधि थी न पीने की, न आराम करने की।

शाम होते होते लोग अपनी-अपनी जगह आ गये थे। हम लोग भी अपने क्वार्टर में पहुंच चुके थे। जोश थमा तो थकान महसूस हुई और तरह-तरह की अफवाहों ने जन्म ले लिया। सुनाई पड़ा—देवरिया से फौज चल चुकी है। आज रात को या कल दिन को पूरा बरहज उसकी गिरफ्त में होगा। आश्रम तो सबसे पहले जुल्म का शिकार होगा। और फिर लोगों की जो दुर्गति होगी उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह भी सुनने में आया कि जो विद्यार्थी बाद में क्रांतिकारी के रूप में आकर भीड़ का नेता बन गया था, वह सी० आई० डी० का आदमी है। भीड़ में क्रांतिकारियों की पहचान के लिए उसे नेता बनना पड़ा था। उसने सारी रिपोर्ट सरकार के पास भेज दी होगी। मैं सोचने लगा कि मैंने भी तो कविता पढ़ी है। जब धरपकड़ होगी तो मैं कैसे बख्शा जाऊंगा। पूरे आश्रम में घबराहट फैल गयी। हवा में भयानक उमस भर गयी थी। लोग कमरे से बाहर आ आकर राजनीतिक हवा का जायजा ले रहे थे। जाने अनजाने यहां से वहां तक एक निर्णय व्याप गया कि आश्रम छोड़कर अपने-अपने घरों को भाग जाया जाये। मैंने और रामानुज ने भी फैसला किया कि दो घड़ी रात रहते ही भाग चलें।

रात गहराने लगी। नींद नहीं आ रही थी, डर लगता था कि अब न मिलिट्री आ जाये। रात अपनी खामोशी में जैसे चिल्ला-चिल्ला उठती थी। कहीं से कोई आवाज़ आती तो लोग चौंक कर एक दूसरे से पूछने लगते—"क्या हुआ, क्या हुआ ?" पहरेदार की आवाज़ लूक की तरह जलती हुई उठती थी और बुझ जाती थी। दो घड़ी रात रहते ही हम लोग उठे। थोड़े बहुत सामान साथ लिए बाकी को कमरे में बंद करके ताला मारा और घर की ओर चल दिये।

मैं था, रामानुज थे। दो एक लड़के रुद्रपुर के पास के गांव के थे। हम साथ चले। और लोग अपनी-अपनी दिशाओं की ओर चले। रामानुज ने टिन का एक जर्जर बक्सा सिर पर लाद लिया था जो टिन-टिन टिन-टिन बजता चलता था। मैंने मना किया था कि यह बजता हुआ बक्स मत ले चलो, लेकिन वे नहीं माने। रात के अंधेरे में कुछ दूर कुछ आहट होती तो हम लोग तेज़-तेज़ चलने लगते कभी-कभी लुदकियां भागने लगते तब रामानुज का बक्सा तेज़ी से बजने लगता। मैं कोफ्त से भर उठता। आजिज आकर मैंने कहा—"तुम ससुरे हमें आज पकड़वाओगे। मन होता है तुम्हारा बक्सा उठा कर फैंक दूं। ऐसा कौन-सा सोना मढ़ा था इस बक्से में कि इसे इस विपत्ति के समय सिर पर बजाते घूम रहे हो। सबको अपनी जान की पड़ी है और तुम्हें इस साले टुटहे बक्से की पड़ी है।"

रामानुज ने कहा—"आप नहीं समझेंगे पंडित जी ! ओल्ड इज़ गोल्ड !" और समय होता तो मैं रामानुज के इस प्रावर्ब पर हंसता लेकिन इस समय दांत पीस कर मन ही मन गाली दी। दिन निकल आया। हम दो कोस आ गये थे।

मन होता था कि रामानुज को छोड़ दूं। उनसे कहूं कि वे या तो पीछे आयें या आगे निकल जायें। इस ससुरे टुटहे बक्से के कारण मैं अपनी जान आफत में नहीं डालना चाहता था। रास्ते में और कहीं विशेष खतरा नहीं था केवल रुद्रपुर में था। सड़क पर ही थाना पड़ता है। वहां हम ज़रूर पकड़े जायेंगे। रामानुज अपना बक्सा बजाकर ज़रूर कह देगा कि हम भागे हुए विद्यार्थी हैं।

रुद्रपुर आया, जी धड़कने लगा। हम चौकन्ने होकर आगे बढ़ने लगे। थाने के पास पहुंचते ही धड़कन तेज़ हो गयी। हम लोग अत्यन्त सहज बनने की कोशिश कर रहे थे, फिर भी आंखें छिप-छिप कर इधर-उधर देख रही थीं कि कोई सिपाही हमें घूर तो नहीं रहा है। हमने देखा कि सचमुच दो सिपाही हमारी ओर देख-देख कर आपस में कुछ बात कर रहे थे। हमें लगा कि वे हमारी ओर इशारा भी कर रहे हैं। हम बाहर से प्रकृतिस्थ होने का प्रयास करते हुए भीतर-भीतर भयभीत से आगे बढ़ते गये। जब कस्बा पार करके सड़क छोड़कर कछार की ओर जाने वाली पगडंडी पर पहुंचे तो जान में जान आयी। गांवों में न थाने थे, न सिपाही। गांवों में क्रान्ति की कोई हलचल भी नहीं थी। वहां तोड़ने-फोड़ने के लिए सरकारी चीज़ें थीं कहां? न स्टेशन था, न थाना था, न आफिस था, न अस्पताल था, न बिजली के तार थे, न बड़े-बड़े स्कूल थे। वहां बाहर की आग को पहुंचने में भी समय लगता है और पहुंचती भी है तो केवल चेतना बनकर, तोड़-फोड़ के लिए वहां गुंजाइश ही नहीं होती।

हम घर पहुंच गये तो राहत की सांस ली। घर वाले भी आश्वस्त हुए। शहर में पढ़ने वाले लड़के गांव आ गये थे। आस-पास के भी प्राइमरी मिडिल स्कूल बंद थे अत: गांव के सभी लड़कों से भेंट-मुलाकात हो रही थी। गांव में बयालीस की क्रांति की चर्चाएं तरह-तरह से होती थीं। न अखबार थे, न रेडियो, बस शहर से आने वाले कचहरिया लोगों की ज़ुबानी कुछ खबरें मिलती थीं जिनमें काफी कुछ फालतू जुड़ जाता था। पिता जी, नरेश भाई, पोलई हरिजन तथा आसपास के गांवों के सुराजी आपस में मिलते थे। प्रभात फेरियां होती थीं, इस या उस गांव में सभाएं होती थीं। कोई छोटा-मोटा नेता आकर भाषण देता था। हल्की-हल्की सरगर्मी गांव में बनी हुई थी। बीच-बीच में यह खबर भी फैलती थी कि मिलिट्री आने वाली है। वह सारे सुराजियों को पकड़ कर ले जायेगी और उनके घर फूंक-फांक देगी। यह खबर गांव के सुविधावादी लोग, थाने के दलाल, सरकार के पिट्ठू लोग रस ले लेकर उड़ाया करते थे।

कुछ दिन घर रहने के बाद इच्छा हुई लक्ष्मीगंज जाऊं—भइया के पास। एक दिन निकल पड़ा। ब्रजनाथ और रामलला दोनों हाई स्कूल में पढ़ते थे और वहां का खर्च-वर्च चलाने के लिए किसी मुख्तार के यहां रसोइया का भी काम करते थे। स्कूल तो बंद थे लेकिन मुख्तार का खाना तो बनाना ही था इसलिए ये दोनों दो चार दिन गांव रहकर लौट आये थे। शाम को मैं इन्हीं के यहां ठहरा। इनके यहां ठहरने में बहुत संकोच होता था। ये बेचारे तो स्वयं ही पराश्रित थे इनके आश्रम में कैसे जाया जाये। इसलिए मैं कभी भी इनके यहां नहीं जाता था। इस बार सकुचाते-सकुचाते गया और ठहर गया।

मुख्तार साहब के घर के आस-पास बहुत से बाबू, छोटे मोटे अफसर वकील मुख्तार रहते थे। खाना खाने के बाद ब्रजनाथ अपने पास के एक क्वार्टर में ले गये। उस क्वार्टर में कई लोग रहते थे। वे एक जगह एकत्र होकर गप-शप कर रहे थे। ब्रजनाथ ने मेरा परिचय कराया। 'मैं कवि हूं', यह जानकर लोग काव्यात्मक तफरीह के मूड में आ गये और मुझ से ज़िद करने लगे कि मैं कविताएं सुनाऊं। दो चार राष्ट्रीय कविताएं सुनायीं। लोगों ने वाह-वाह किया और बिखर गये। मैं प्रसन्न था, तभी उनमें से एक आदमी ने जो अभी भी मेरे सामने बैठा था धीरे से कहा—"देखिए कवि जी, ये कविताएं सबके सामने यानी अनजान लोगों के सामने मत सुनाया कीजिए।"

"क्यों?"

"इसलिए कि समय ऐसा है कि इन कविताओं को सुनकर कोई भी आपको पकड़वा सकता है। सरकार के कान चौकन्ने हैं। "आप जानते हैं मैं कौन हूं ?"

"नहीं, आपके बारे में कुछ भी नहीं जानता।"

"मैं सी० आई० डी० इंस्पैक्टर हूं। दूसरा इंस्पैक्टर होता तो आप मुसीबत में पड़ गये होते।"

मैं रात को सोया तो यही सोचता रहा कि आज बाल-बाल बच गया। कितना नेक इंस्पैक्टर है। जीविका के लिए यह धंधा जरूर करता है किन्तु भीतर-भीतर राष्ट्रवादी है। ऐसे ही न जाने कितने लोग होंगे जो ब्रिटिश राज्य के नौकर होंगे। बाहर-बाहर उसके प्रति वफादारी निभा रहे होंगे और भीतर-भीतर राष्ट्रीय पीड़ा उन्हें परेशान कर रही होगी। दूसरे दिन उठा और चल दिया स्टेशन की ओर। सुना था कि इस समय खद्दर की पोशाक खतरनाक बन गयी है। ऐसे आदमी को देखते ही पुलिस पकड़ लेती है। मैं भी खद्दर की कमीज़ और टोपी पहने था। धोती शायद मिल की थी। टोपी उतारकर जेब में डाल ली थी लेकिन कमीज़ का क्या करूं ? मुझे लगता कि हर पुलिस वाला या हर सरकारी अफसर मेरी ओर घूर कर देख रहा है। लक्ष्मीगंज स्टेशन पर उतरा तो देखा—स्टेशन आधा जल चुका था। एक पुलिस वाला मेरी ओर आता दिखाई पड़ा। मैं सिर घुमाकर दूसरी ओर चलने लगा और इस आशंका में था कि अब पीछे से दो हाथ मेरी गर्दन पर कसे हुए महसूस होंगे। कुछ दूर जाने पर मैंने पीछे मुड़कर देखा। वह कहीं और जा रहा था। मैं लक्ष्मीगंज पहुंच गया। भइया देखकर चौंके—"अरे तुम ? तुम इस आंधी-पानी में कहां आ गये ?"

मैं हंसा, उन्होंने प्यार से समेट लिया।

पहली बार आया था तब के और अब के वातावरण में बहुत अंतर था। वह फागुन का महीना था, यह भादों का। सीजन आफ होने की वजह से मिल की हलचल बंद थी। ज़मींदार का यह दरबार भी लगान वसूली का सीजन न होने से ठंडा पड़ा था। लेकिन वातावरण में खूब हलचल थी। बाज़ार में सनसनी थी, ज़मींदार की कोठी होने के कारण यहां भी सनसनी थी—पता नहीं कौन अफसर कब आ जाये और क्या छानबीन करे। चर्चाएं होती रहती थीं—"किसने कहां किस सरकारी जगह पर कब्ज़ा कर लिया है और राष्ट्रीय झंडा गाड़ दिया है, कौन-कौन नेता पकड़े गए हैं कौन-कौन फरार हैं ?" खासकर बलिया के कारनामे अखबारों में खूब छप रहे थे। क्रांतिकारियों के बहादुर कारनामों के साथ-साथ ब्रिटिश सत्ता के अमानवीय दमनकारी कारनामों के समाचार आ रहे थे। गोरखपुर का कलैक्टर मास तो अपने जुल्म में लासानी सिद्ध हो रहा था। नाखूनों में कील गड़वाना, गुदा में मिर्च डलवा देना, गुप्तांगों को नाकाम कर देना, पेड़ पर उलटा लटकाकर गोलियां दागना, गांवों में आग लगवा देना आदि न जाने कितने अमानुषिक कारनामे सरकार करवा रही थी और इन सब कारनामों में कलैक्टर मास सबसे आगे था। क्रान्तिकारी भागते फिर रहे थे। वे पकड़ में नहीं आना चाहते थे—यातना के डर से भी और लोगों में चेतना बनाये रखने के लिए भी।

भइया ज़मींदार के तहसीलदार होकर भी पक्के कांग्रेसी थे। वे खद्दर ही पहनते थे और उनका हृदय राष्ट्रीय चेतना से ओतप्रोत था। मैंने एक दिन शाम को खेतों की ओर घूमने जाते हुए पूछा—"आपको कैसा लग रहा है। आप इतने बड़े कांग्रेसी, देश में इतना

रुद्रपुर आया, जी धड़कने लगा । हम चौकन्ने होकर आगे बढ़ने लगे । थाने के पास पहुंचते ही धड़कन तेज़ हो गयी । हम लोग अत्यन्त सहज बनने की कोशिश कर रहे थे, फिर भी आंखें छिप-छिप कर इधर-उधर देख रही थीं कि कोई सिपाही हमें घूर तो नहीं रहा है । हमने देखा कि सचमुच दो सिपाही हमारी ओर देख-देख कर आपस में कुछ बात कर रहे थे । हमें लगा कि वे हमारी ओर इशारा भी कर रहे हैं । हम बाहर से प्रकृतिस्थ होने का प्रयास करते हुए भीतर-भीतर भयभीत से आगे बढ़ते गये । जब कस्बा पार करके सड़क छोड़कर कछार की ओर जाने वाली पगडंडी पर पहुंचे तो जान में जान आयी । गांवों में न थाने थे, न सिपाही । गांवों में क्रान्ति की कोई हलचल भी नहीं थी । वहां तोड़ने-फोड़ने के लिए सरकारी चीज़ें थीं कहां ? न स्टेशन था, न थाना था, न आफिस था, न अस्पताल था, न बिजली के तार थे, न बड़े-बड़े स्कूल थे । वहां बाहर की आग को पहुंचने में भी समय लगता है और पहुंचती भी है तो केवल चेतना बनकर, तोड़-फोड़ के लिए वहां गुंजाइश ही नहीं होती ।

हम घर पहुंच गये तो राहत की सांस ली । घर वाले भी आश्वस्त हुए । शहर में पढ़ने वाले लड़के गांव आ गये थे । आस-पास के भी प्राइमरी मिडिल स्कूल बंद थे अत: गांव के सभी लड़कों से भेंट-मुलाकात हो रही थी । गांव में बयालीस की क्रांति की चर्चाएं तरह-तरह से होती थीं । न अखबार थे, न रेडियो, बस शहर से आने वाले कचहरिया लोगों की ज़ुबानी कुछ खबरें मिलती थीं जिनमें काफी कुछ फालतू जुड़ जाता था । पिता जी, नरेश भाई, पोलई हरिजन तथा आसपास के गांवों के सुराजी आपस में मिलते थे । प्रभात फेरियां होती थीं, इस या उस गांव में सभाएं होती थीं । कोई छोटा-मोटा नेता आकर भाषण देता था । हल्की-हल्की सरगर्मी गांव में बनी हुई थी । बीच-बीच में यह खबर भी फैलती थी कि मिलिट्री आने वाली है । वह सारे सुराजियों को पकड़ कर ले जायेगी और उनके घर फूंक-फांक देगी । यह खबर गांव के सुविधावादी लोग, थाने के दलाल, सरकार के पिट्ठू लोग रस ले लेकर उड़ाया करते थे ।

कुछ दिन घर रहने के बाद इच्छा हुई लक्ष्मीगंज जाऊं—भइया के पास । एक दिन निकल पड़ा । ब्रजनाथ और रामलला दोनों हाई स्कूल में पढ़ते थे और वहां का खर्च-वर्च चलाने के लिए किसी मुख्तार के यहां रसोइया का भी काम करते थे । स्कूल तो बंद थे लेकिन मुख्तार का खाना तो बनाना ही था इसलिए ये दोनों दो चार दिन गांव रहकर लौट आये थे । शाम को मैं इन्हीं के यहां ठहरा । इनके यहां ठहरने में बहुत संकोच होता था । ये बेचारे तो स्वयं ही पराश्रित थे इनके आश्रम में कैसे जाया जाये । इसलिए मैं कभी भी इनके यहां नहीं जाता था । इस बार सकुचाते-सकुचाते गया और ठहर गया ।

मुख्तार साहब के घर के आस-पास बहुत से बाबू, छोटे मोटे अफसर वकील मुख्तार रहते थे । खाना खाने के बाद ब्रजनाथ अपने पास के एक क्वार्टर में ले गये । उस क्वार्टर में कई लोग रहते थे । वे एक जगह एकत्र होकर गप-शप कर रहे थे । ब्रजनाथ ने मेरा परिचय कराया । 'मैं कवि हूं', यह जानकर लोग काव्यात्मक तफरीह के मूड में आ गये और मुझ से ज़िद करने लगे कि मैं कविताएं सुनाऊं । दो चार राष्ट्रीय कविताएं सुनायीं । लोगों ने वाह-वाह किया और बिखर गये । मैं प्रसन्न था, तभी उनमें से एक आदमी ने जो अभी भी मेरे सामने बैठा था धीरे से कहा—"देखिए कवि जी, ये कविताएं सबके सामने यानी अनजान लोगों के सामने मत सुनाया कीजिए ।"

"क्यों ?"

"इसलिए कि समय ऐसा है कि इन कविताओं को सुनकर कोई भी आपको पकड़वा सकता है। सरकार के कान चौकन्ने हैं। "आप जानते हैं मैं कौन हूं?"

"नहीं, आपके बारे में कुछ भी नहीं जानता।"

"मैं सी० आई० डी० इंस्पैक्टर हूं। दूसरा इंस्पैक्टर होता तो आप मुसीबत में पड़ गये होते।"

मैं रात को सोया तो यही सोचता रहा कि आज बाल-बाल बच गया। कितना नेक इंस्पैक्टर है। जीविका के लिए यह धंधा जरूर करता है किन्तु भीतर-भीतर राष्ट्रवादी है। ऐसे ही न जाने कितने लोग होंगे जो ब्रिटिश राज्य के नौकर होंगे। बाहर-बाहर उसके प्रति वफादारी निभा रहे होंगे और भीतर-भीतर राष्ट्रीय पीड़ा उन्हें परेशान कर रही होगी। दूसरे दिन उठा और चल दिया स्टेशन की ओर। सुना था कि इस समय खद्दर की पोशाक खतरनाक बन गयी है। ऐसे आदमी को देखते ही पुलिस पकड़ लेती है। मैं भी खद्दर की कमीज़ और टोपी पहने था। धोती शायद मिल की थी। टोपी उतारकर जेब में डाल ली थी लेकिन कमीज़ का क्या करूँ? मुझे लगता कि हर पुलिस वाला या हर सरकारी अफसर मेरी ओर घूर कर देख रहा है। लक्ष्मीगंज स्टेशन पर उतरा तो देखा—स्टेशन आधा जल चुका था। एक पुलिस वाला मेरी ओर आता दिखाई पड़ा। मैं सिर घुमाकर दूसरी ओर चलने लगा और इस आशंका में था कि अब पीछे से दो हाथ मेरी गर्दन पर कसे हुए महसूस होंगे। कुछ दूर जाने पर मैंने पीछे मुड़कर देखा। वह कहीं और जा रहा था। मैं लक्ष्मीगंज पहुंच गया। भइया देखकर चौंके—"अरे तुम? तुम इस आंधी-पानी में कहां आ गये?"

मैं हंसा, उन्होंने प्यार से समेट लिया।

पहली बार आया था तब के और अब के वातावरण में बहुत अंतर था। वह फागुन का महीना था, यह भादों का। सीजन आफ होने की वजह से मिल की हलचल बंद थी। ज़मींदार का यह दरबार भी लगान वसूली का सीजन न होने से ठंडा पड़ा था। लेकिन वातावरण में खूब हलचल थी। बाज़ार में सनसनी थी, ज़मींदार की कोठी होने के कारण यहां भी सनसनी थी—पता नहीं कौन अफसर कब आ जाये और क्या छानबीन करे। चर्चाएं होती रहती थीं—"किसने कहां किस सरकारी जगह पर कब्ज़ा कर लिया है और राष्ट्रीय झंडा गाड़ दिया है, कौन-कौन नेता पकड़े गए हैं कौन-कौन फरार हैं?" खासकर बलिया के कारनामे अखबारों में खूब छप रहे थे। क्रांतिकारियों के बहादुर कारनामों के साथ-साथ ब्रिटिश सत्ता के अमानवीय दमनकारी कारनामों के समाचार आ रहे थे। गोरखपुर का कलैक्टर मास तो अपने जुल्म में लासानी सिद्ध हो रहा था। नाखूनों में कील गड़वाना, गुदा में मिर्च डलवा देना, गुप्तांगों को नाकाम कर देना, पेड़ पर उलटा लटकाकर गोलियां दागना, गांवों में आग लगवा देना आदि न जाने कितने अमानुषिक कारनामे सरकार करवा रही थी और इन सब कारनामों में कलैक्टर मास सबसे आगे था। क्रान्तिकारी भागते फिर रहे थे। वे पकड़ में नहीं आना चाहते थे—यातना के डर से भी और लोगों में चेतना बनाये रखने के लिए भी।

भइया ज़मींदार के तहसीलदार होकर भी पक्के कांग्रेसी थे। वे खद्दर ही पहनते थे और उनका हृदय राष्ट्रीय चेतना से ओतप्रोत था। मैंने एक दिन शाम को खेतों की ओर घूमने जाते हुए पूछा—"आपको कैसा लग रहा है। आप इतने बड़े कांग्रेसी, देश में इतना

कुछ हुआ, आप कुछ कर न पाने से दुःखी नहीं हो रहे हैं। ज़मींदार की नौकरी ने आपको बांध रखा है।''

उन्होंने मेरी ओर देखा, मुस्कराये। फिर बोले—''ज़मींदार की नौकरी इस समय वरदान हो गयी है।''

मैं समझा नहीं। चुप रहा। उन्होंने कहा—''देखो कहीं ज़िक्र मत करना। यहां के क्रांतिकारियों की मेरे ही कमरे में बैठक हुई थी। तय हुआ था कि वे लोग स्टेशन की तोड़-फोड़ करेंगे, आग लगायेंगे और जब बहुत कुछ हो चुकेगा तब मैं अपने कुछ साथियों के साथ दौड़ा हुआ आऊंगा। हमें देखते ही वे लोग भाग जायेंगे। ऐसा ही हुआ। सरकारी अमले हमें अपना हितैषी समझते हैं, क्रांतिकारी अपना हितैषी समझते हैं। हम आसानी से क्रांतिकारियों की मदद कर रहे हैं। सरकार को हमारे ऊपर शक नहीं होता।''

सुनकर मुझे अच्छा लगा। उधर से पुलिस वाले आ रहे थे। उन्होंने भइया को नमस्कार किया।

''इधर कहां गये थे, दारोगा जी।''

''क्रांतिकारियों की खोज़ में। गोपलापुर गांव के चार पांच क्रांतिकारियों ने नाक में दम कर रखा है। पता चलता है कि अमुक जगह पर हैं, पहुंचने से पहले ही लापता हो जाते हैं। लेकिन ससुरू लोग कहां तक बचेंगे ?''

''हां-हां, बकरे की मां कब तक खैर मनायेगी।'' भइया ने हंसकर कहा। मेरे लायक कोई सेवा हो तो बताइएगा दारोगा जी।''

''ज़रूर ज़रूर आप तो हम लोगों के सरपरस्त ही हैं।''

वे चले गये तो भइया हंसे, बुदबुदाये—सरपरस्त—।

अंधेरा हो आया था। हम बात करते हुए लौट रहे थे कि एक आदमी धान के खेत में से निकला। वह बहुत डरावना लग रहा था। कीचड़ से लथपथ था। वह अंगोछे का झोला बनाकर लटकाये हुए था।

'रामअवध जी।'' वह धीरे से फुसफुसाया।

भइया ने कुछ अकना। फिर धीरे से बोले—''नंदलाल।''

''हां, वे सब अभी गये हैं न, मेरी ही खोज में गये थे। मैं आकर धान के खेत में छिप गया था।''

''और लोग कहां हैं ?''

''वे भी कहीं न कहीं होंगे ही।''

''अंगोछे में क्या लटका रखा है ?''

''भूजा है। बस अंगोछे में भूजा रखते हैं। खाने-पीने का समय कहां मिलता है। पुलिस वालों की आहट मिलती है तो भाग खड़े होते हैं और कहीं छिप कर भूजा खाते रहते हैं, प्यास से तड़पते रहते हैं। कभी-कभी कोई जानकार व्यक्ति पाखाना होने के बहाने लोटे में पानी लेकर आता है पिला जाता है।''

''अब ?''

''जा रहा हूं घर। अब वे सब चले गये न।''

''हां चले तो गये लेकिन क्या पता कुछ लोगों को घर के आस-पास छोड़ गये हों।''

"तब कहीं और जाऊंगा। करना क्या है रात को थोड़ा सो लेना है।"

"नहीं नहीं ऐसा करो तुम थोड़ी देर बाद हमारे बागीचे में पहुंच जाना। मैं वहां कपड़ा लिए हुए मिलूंगा। नहा धोकर और कुछ खाकर वहीं सो लेना और सुबह होने से पहले ही निकल जाना।"

"ठीक है, यह भी ठीक है।"

हम लौट आये। इस छावनी पर बारह बजे से पहले खाने-पीने की नौबत ही नहीं आती। भइया ने अपने एक विश्वस्त नौकर को बुलाकर कहा "अभी खाना बनने में बहुत देर है, इसे भूख लग आयी है बाज़ार से दो रुपए की पूड़ियां लेता आ।"

पूड़ियां आ गयीं। ज्यादा थीं, ज्यादा मंगायी ही गयी थीं। कुछ देर बाद बगीचे की ओर से कुत्ते की बोली सुनाई पड़ी। भइया चौंके। उन्होंने झोले में कुछ कपड़े और पूड़ियां रख ली थीं। झोला लेकर धीरे से निकल गये। मुझ से कहा अभी आता हूं। कोई कुछ पूछे तो कुछ बताना मत। मैं समझ गया कि यह कुत्ते की बोली कोई संकेत है। भइया बगीचे में उसी क्रांतिकारी का प्रबंध करने गये हैं।

कुछ देर बाद लौट आये।

"बच्चा, कल्याण हो, राज-पाट बना रहे।"

हमने देखा—सामने एक साधु खड़ा है।

"क्या चाहिए महाराज?" भइया ने पूछा।

"साधु क्या चाहता है वत्स, कोई राजपाट तो चाहता नहीं। बस दो रोटी चाहिए और रात भर का आसरा।"

"अरे यह कोई धर्मशाला थोड़े न है महाराज।" एक सिपाही ने मज़ाक किया।

'तुम्हें बोलने के लिए किसने कहा था? साधु संन्यासियों से कैसे बोला जाता है, यह भी तमीज़ नहीं।"

"कोई बात नहीं वत्स, वह सिपाही है। उसने सिपाही की भाषा सीखी है।" कहकर उसने भाई साहब को आंख मारी।

पता नहीं क्या हुआ कि भइया कुछ सोचते-सोचते उचक पड़े। "आइए आइए महाराज, बड़े पुण्य से आप लोगों के दर्शन होते हैं। आज मेरे कमरे को ही पवित्र कीजिए।"

"चलो वत्स।" कहकर वह भइया के साथ उनके कमरे में चला गया।

सब लोग खा पीकर सो गये। मैं भी बरामदे में सो गया। भइया और साधु बहुत देर तक कमरे में बात करते रहे। कुछ देर तक खामोशी छायी रहती फिर साधु की आवाज़ सुनाई पड़ती—"वत्स तेरा भाग्य बहुत उज्ज्वल है तू बड़ा यशस्वी बनेगा तेरा भाई भी बहुत तरक्की करेगा।"

सुबह होते ही वह साधु चला गया। मैंने भइया से कहा, "आपको तो साधुओं के प्रति इतना श्रद्धावान कभी नहीं देखा था। ऐसे साधुओं को तो आप ढोंगी मानते रहे हैं। इस साधु में क्या था?"

भइया ने एक रहस्य भरी मुस्कान से मुझे देखा—"इसमें अपना देश भरा है।"

"अच्छा, समझा यह भी कोई......"

"हां, यह भी क्रांतिकारी था। किसी से कहना मत।"

दस बारह दिन रह कर मैं घर लौटने लगा। वही डर। गोरखपुर आया। कचहरी की ओर निकल गया। देखा, वहां की हवालात में अनेक लोग बंद थे। मैं आगे बढ़ रहा था कि खिड़की के भीतर से एक आवाज़ आयी—लगा कोई मुझे पुकार रहा है। देखा श्री रामलखन शुक्ल मुझे आवाज़ दे रहे हैं। मैं लौटकर खिड़की के पास गया। वे खिड़की की छड़ें पकड़कर खड़े थे। उनकी आंखों में उनकी सहज तीव्रता और चंचलता नाच रही थी। पूछा—"बाहर का क्या हाल है? आन्दोलन की क्या स्थिति है?"

"ठीक चल रहा है लेकिन लोग पकड़े जा रहे हैं उन्हें यातनाएं दी जा रही हैं।"

"ऐ लड़के भाग यहां से।" भीतर से एक सिपाही गरजा।

"चोऽप।" रामलखन जी ने सिपाही को ज़ोर से डांटा—"गद्दार कहीं का।"

सिपाही की सिट्टी-पिट्टी गुम हो गयी। मैं भी आगे सरक गया।

रामलखन जी से आपकी पहचान मैं करा चुका हूं—ढरसी में, पंडित रामगोपाल शुक्ल के यहां—मित्र बंधुओं और रामचंद्र शुक्ल वाले विवाद के प्रसंग में। कैसे बहादुर लोग हैं—सिंह की तरह पिंजड़े में कैद होकर भी दहाड़ रहे हैं, आंखों में कितनी निर्भीकता भरी हुई है और मैं अकारण डरता घूम रहा हूं। मुझे अपने पर धिक्कार छूटा और निडर बनने का स्वांग करता हुआ कचहरी में घूमने लगा। कचहरी वजवजा रही थी और उस बजबजाहट में भी भय का एक सन्नाटा था।

घर लौटना था कि याद आया कि साहित्यरत्न के फार्म पर फोटो भी चिपकानी है। दुबारा कौन आयेगा, क्यों न फोटो खिचवाता चलूं। कचहरी में तुरंत फोटो वाली कई चलती फिरती दुकानें थीं। वहीं खिचवा ली। अपनी फोटो देखने का यह पहला अवसर था। जब गोरखपुर से गांव चला तो मेरे साथ दीनानाथ भी हो लिये थे। वे कचहरी में ही मिल गये थे। अपनी फोटो देखने की बार-बार इच्छा होती थी। बीस मील की दूरी में पैदल चलते हुए कई बार जेब से निकाल कर फोटो देखी। दीनानाथ क्या सोचेंगे, यह सोचकर मैं पेशाब करने के वहाने कहीं बैठ जाता और फोटो निकाल कर देख लेता। फोटो में आंखें ज़रा तन गयी थीं, यही वात खटक रही थी। बार-बार देखता कि आंखें तन जाने के बावजूद कहीं खराब तो नहीं लग रहा हूं। उसके बाद तो बहुत फोटुएं खिचीं, अच्छी से अच्छी खिचीं, खुद खिचवाई औरों ने खींचीं, संस्थाओं ने खींचीं, पत्रिकाओं ने खींचीं लेकिन अपनी यह पहली फोटो देखने की जो अनुभूति थी, वह अद्‌भुत थी।

(शीघ्र प्रकाश्य जीवन का सफरनामा 'रोशनी की पगडंडियाँ' का एक अंश)

□

हास्य-व्यंग्य

वर्ण परिचय

□ रवीन्द्रनाथ त्यागी

और कुछ कहने से पूर्व मैं यह मूल बात स्पष्ट कर दूँ कि मेरे इस निबन्ध का उस 'वर्ण परिचय' से कोई संबंध नहीं है जो बंगाली बच्चों के लिए ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने कभी लिखा था। वर्ण शब्द से मेरा अभिप्राय उस वर्ण-व्यवस्था से है जोकि हमारे समाज और धर्म में सदा से चलती आई। चार वर्ण, चार आश्रम और सोलह संस्कारों को यदि हम भूल जाएं तो मैं आपसे पूछता हूँ हिन्दू धर्म में मेरे अतिरिक्त और बचता ही क्या है ?

हमारे तमाम प्राचीन ग्रन्थों में साफ़-साफ़ लिखा है कि ब्राह्मण जो होता है वह बाकी जातियों से ऊपर होता है। बच्चा जब पैदा होता है, तब भी ब्राह्मण को बुलाया जाता है और बड़ा होने पर जब उसकी मृत्यु होती है तब भी सारा काम ब्राह्मण ही करता है। स्थिति यह है कि यदि ब्राह्मणों को देश से निर्वासित कर दिया जाए तो न कोई बच्चा होगा और न कोई मरेगा। मगर ऐसा कभी नहीं होगा क्योंकि चाहे सारा देश का देश धरातल में चला जाए, ब्राह्मण जो है वह फिर भी रहेगा और ठाठ से रहेगा। ब्राह्मण शब्द ब्रह्मा से बना है। जो ब्रह्मा को जाने वही ब्राह्मण। वह ब्रह्मा के मुख से पैदा हुआ है जब कि शूद्र जो है वह ब्रह्मा के चरणों में से निकला है। ब्रह्म वाक्यं जनार्दनः। तुलसीदास ने कहा है कि ब्राह्मण के कोप से राजा तक भी सुरक्षित नहीं रहता है।" हे राजन् यदि तुम ब्राह्मण को वश में रख सको तो समझो कि तीनों भगवान् तुम्हारे वश में हैं। हे राजन् यदि तेरा कभी नाश होगा तो वह किसी ब्राह्मण के शाप से ही होगा।" कवि दोनों हाथ ऊपर उठा कर आगे कहता है कि "ब्राह्मणों से कोई पार नहीं पा सकता"। आगे चल कर तुलसीदास फिर कहते हैं कि "संसार में एक ही पुण्य है और वह है मन, वचन और कर्म से ब्राह्मणों के चरणों की सेवा करना। जो कोई ऐसा नहीं करता वह अगले जन्म में कौए की योनि को प्राप्त करता है।" महाभारत के उद्योग पर्व में लिखा

है कि विश्वामित्र को गुरु दक्षिणा जुटाने के लिए राजा ययाति ने अपनी सगी पुत्री को गालव के हवाले कर दिया था ताकि वह उसे बेच सके और अपने ब्राह्मण गुरु को दक्षिणा दे सके। मनुस्मृति के अनुसार जैसे तेजस्वी अग्नि मरघट में भी जल कर अपवित्र नहीं होती, वैसे ही ब्राह्मण यदि कोई बुरा काम भी करे, तब भी वह पूजनीय ही रहता है क्योंकि वह देवता है।

शास्त्रों में लिखा है कि यदि कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण से कोई फौजदारी करेगा वह दुःख को प्राप्त होगा। गरुड़ पुराण के अनुसार जो व्यक्ति ब्राह्मण की हत्या करेगा वह क्षय रोग से पीड़ित होगा, जो कोई व्यक्ति ब्राह्मण के लात मारेगा, वह पंगु हो जाएगा, यदि कोई ब्राह्मण के घर में आग लगाएगा वह गंजा हो जाएगा, जो कोई उसके पान, फल व फूल चुराएगा वह बन्दर बनेगा और जो नीच व्यक्ति ब्राह्मण के जूते चुराएगा वह मेंढा बनेगा।

पता नहीं कैसे हमारा जो बंगाल देश है वह प्रगति और परंपरा—इन दोनों विपरीत दिशाओं में बाकी भारत की अपेक्षा कहीं ज्यादा होनहार रहा है। यूँ तो ब्राह्मणों ने वेश्यावृति और न जाने कितनी और आपत्तिजनक बातों को [उदाहरण के लिए देवदासी रखना, श्राद्ध करना, सती होना और छुआछूत मानना] सारे देश में बल दिया पर बंगाल में तो उन्होंने कमाल ही कर दिखाया। पिछली शताब्दी तक बंगाल में लोग सत्तर-सत्तर पत्नियाँ रखा करते थे। ये सारी पत्नियाँ अपने पिता के घर पर रहती थीं, दामाद बाबू तो कभी साल में एक या दो बार पधारते थे। उस एक दो दिन में जो सुख उनकी पत्नी को मिलता था उसके लिए जामाता को दक्षिणा दी जाती थी। इस पद्धति की सबसे ज्यादा उदारमना बात यह थी कि यदि पति अपनी ससुराल खुद नहीं जा सकता था, तो वह अपने किसी मित्र को वहाँ भेज सकता था। "आवारा" शरद्चंद्र बंगाल की स्त्रियों के लिए वास्तव में "मसीहा" थे।

सारे संस्कार ब्राह्मणों द्वारा ही सम्पन्न होते थे। यज्ञोपवीत संस्कार [जिसे महर्षि दयानन्द ने भी 'संस्कार विधि' नाम की अपनी पुस्तक में शामिल किया] तक ब्राह्मण के बिना नहीं किया जा सकता था। शेष सारे यज्ञ भी ब्राह्मण ही कराता था। गो-यज्ञ करने पर उसे गैया मिलती थी पर नागयज्ञ करने पर उसे नाग क्यों नहीं दिया जाता था—इसका पता मुझे कभी नहीं लगा। खुशी की बात है कि यज्ञों की परंपरा अभी भी काफ़ी ठाठ से चल रही है। मध्यप्रदेश में घातक गैस के कारण हज़ारों लोग मारे गए या अपंग हो गए। उन सब की आत्माओं को शान्ति देने के लिए वहाँ एक महायज्ञ किया गया। शंकराचार्य ने खुद आकर यज्ञ को सम्पन्न किया। इस महायज्ञ में पच्चीस हज़ार आहुतियाँ दी गईं। पूर्णाहुति के दिन सरकारी दफ्तर भी आधे दिन के लिए बन्द किए गए। कुल मिला कर लाखों रुपए खर्च किए गए।

मैंने ऊपर यज्ञोपवीत की चर्चा की थी मगर बाकी बातों में फंस जाने के कारण मैं यज्ञोपवीत से आगे निकल गया। बात यह है कि यज्ञोपवीत संस्कार खाकसार का भी हुआ था पर मैंने अपना जनेऊ बाद में उतार दिया था। जब भी मैं अपनी लघुशंका का समाधान करने बैठता था, वैसे ही मेरा जो यज्ञोपवीत था वह अपवित्र हो जाता था। यह तो मैंने बाद में चल कर देखा कि जो स्थिति मेरी थी वह बाकी साथियों की भी थी मगर वे अपना धागा इस कारण नहीं उतारते थे क्योंकि उसमें वे दूकान की चाबियाँ बांधे रहते थे। इतनी दूर की बात तो शायद दयानन्द सरस्वती ने भी नहीं सोची होगी। [ऋषि

दयानन्द की लिखी 'सत्यार्थ प्रकाश' नाम की जो कृति है वह खड़ी बोली में लिखी गई गद्य की पहली किताब है। वह साहित्यिक कृति नहीं है, यह दीगर बात है।]

ब्राह्मण लोगों की सलाह से प्रशासन निचली जातियों पर जो जुल्म ढाता था उसका वर्णन करना कठिन है। निचली जातियों का बुरी तरह शोषण किया गया। गीता में "यदा यदा ही धर्मस्य" वाली जो पंक्ति है उसका ब्राह्मणीय अर्थ यह है कि धर्म को ग्लानि तभी पहुँचती है जब कि अछूत लोग ब्राह्मणों का निरादर करते हैं। शंबूक नाम के एक हरिजन ने वेद पढ़ लिए और पंडित हो गया तो मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने उसका वध किया। यह सारा काम मात्र ब्राह्मणों की सलाह से किया गया था। 'हरिवंश पुराण' में बताया गया है कि 'ऐतरीय' एक शूद्र थे और उनके पिता ने उन्हें शास्त्रों का मनन करने से रोका था। वे पंडित बने और बाद में उन्होंने "ऐतरीय पुराण' लिखा। मगर एक बात है जो हमें नहीं भूलनी चाहिए। शूद्रों की सब चीज़ें खराब थीं पर यदि उनकी पत्नी या लड़की सुन्दर होती थी तो बाकी जातियाँ उन्हें अछूत नहीं समझती थीं। चाणक्य ने लिखा है कि यदि स्त्री "दुष्कुल" की भी हो तो भी उसे स्वीकार करना चाहिए। धन्य है हमारा देश और धन्य है हमारा हिन्दू धर्म।

तीन पेज लिखने के बाद मैं असली मुद्दे पर आता हूं। वे दिन गए जबकि अंबेदकर क्लास के बाहर दरवाज़े के पास खड़े होकर पढ़ा करते थे। अब तो हरिजनों और अनुसूचित जातियों की चाँदी ही चाँदी है। लायक कोई और है पर तरक्की जो है वह अनुसूचित जाति वाले को ही मिलती है। तबादला है वह भी तभी होगा और वहाँ होगा, जब और जहां हरिजन कर्मचारी चाहेंगे। उनके बच्चों को हर कालिज में, हर नौकरी में और हर बाकी जगह में प्राथमिकता दी जाएगी। मैं निवेदन करता हूं कि यदि 'यौन परिवर्तन' और 'नाम परिवर्तन' हो सकते हैं तो वर्ण परिवर्तन क्यों नहीं हो सकता ? सच्चाई की बात तो यह है कि कुछ त्यागी लोग तो वैसे ही हरिजनों की अपेक्षा कहीं ज्यादा पिछड़े हुए हैं और जीवन का आधा भाग ज़िला जेल में खुशी-खुशी गुज़ारते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि त्यागी लोग ब्राह्मण हैं पर क्योंकि किसी मूर्ख पूर्वज ने दान लेना त्याग दिया तो त्यागी जाति का वर्तमान नाम पड़ा। मेरी सगी पत्नी के सगे मामा [जो अंग्रेज़ी ज़माने में केंद्रीय सरकार के संयुक्त-सचिव थे] अपने नाम के साथ 'दान त्यागी' लिखा करते थे। कुछ लोग हैं जो कहते हैं कि कभी किसी राजा ने एक वेश्या रख ली थी और बाद में उसे 'त्याग' दिया था। उसी के वंश से 'त्यागी' लोग पैदा होते गए। सच्ची बात यह है कि मुझे तो इस वेश्या वाली कथा पर ही ज्यादा विश्वास होता है। अगर इतनी सारी गवाही पेश करने के बाद भी सरकार मुझे शूद्र नहीं स्वीकार करती तो मैं विवश होकर पंत जी की 'दंतकथा' नाम की अमर कविता का अन्तिम पद आपको सुनाऊंगा। कवि कहता है कि "पुरानी ही दुनियाँ अच्छी थी सच, पुरानी ही दुनियाँ।" वाकई इससे तो पहिली दुनियाँ ही अच्छी थी जिसमें दिली प्रशासन की परिधि में रहने वाले त्यागी लोग" "अनुसूचित" जातियों में शामिल किए जाते थे।

□

दो कविताएं

अष्टपाद के पाद अनगिनित

□ श्रीकृष्णराय 'हृदयेश'

मना किया था,
कहाँ बात मेरी मानी थी।
लगता है
आगे भी नहीं मानने वाले।
क्यों शब्दों का जोड़-घटाना भिड़ा रहे हो।
कभी जोड़ते, कभी तोड़ते,
जोड़-तोड़ का समीकरण है।
हैं सपाट से प्रश्न कि
क्यों ऐसा करते हो ?
क्या इस क्रम में तुम औरों को पहिचानोगे ?
अथवा
औरों द्वारा तुम जाने जावोगे ?
सच है
तुम ने बना लिया है चण्डीगढ़ का राक गार्डेन,
जिसमें दिखलाई देती हैं कई गुफायें।
अन्धी किसी गुफा से ही यह भी निर्मित है।
यह जंगल का शहर,
गुफाओं का आक्टोपस,
जिसके केवल आठ नहीं
अनगिनित पैर हैं।

कसे हुए हैं वृक्षों को
जो काली कोठरियों के मुँह पर उगे हुए हैं।
खोज रहे प्रकाश की किरणें
उन्हें कहाँ फुर्सत, जो अन्धेरे में झाँकें।
उलझी हुई स्वयं हैं झरबेरी-झाड़ी में।
इसीलिए तो मना किया था —
मत जोड़ो-तोड़ो शब्दों को।

डर है
इन शब्दों के भ्रम में
कोई भारी-भरकम पत्थर
तुझ पर आकर घहरायेगा।
बन जावोगे तुम भी
एक खिलौना
राक गार्डेन लायक।

गीतिका

अंधेरे की ज़द से जिसे बचा लाया हूँ,
उस घर में ही बना पराया,
भकुवाया हूँ।
कभी नहीं उसका चेहरा तक देखा मैंने,
फिर भी तुम कहते हो
मैं उसकी साया हूँ।
उच्छृँखल हूं नहीं
मित्र !
कुछ याद नहीं है,
कहीं राह में पुष्पांजलि मैं खो आया हूँ।
आसमान का रंग देख करके गहराता
इन्द्र धनुष को
कन्धों पर ढोकर लाया हूँ।
नया कलेण्डर लटक रहा मड़ई के ऊपर
बस्ती में पहिचान
शहर की ले आया हूँ।

दो कविताएं

जिम्मेदार

□ गंगाप्रसाद विमल

हत्यारे वे ही नहीं हैं
लिप्त हैं जो नरसंहार में।
वे भी हैं
जो कहीं अपनी सुविधा के लिए
या डर से
या कूटनीति से
चुप हैं। प्रतिरोधहीन
धीरे-धीरे सब मर रहे हैं
कोई गोली से
कोई महंगाई की मार से
कोई चुप्पी से
हत्यारे वे भी हैं
जो हमारे लिए
बो रहे हैं घुप्प सन्नाटा
बस क्या हम
चुप रहने के लिए ही आज़ाद हैं ?
हत्यारे वे भी हैं
जो ज्यादा बोल रहे हैं
दूसरों को
ठहरा रहे हैं जिम्मेदार।

कानून की किताबें हों
या न्यायाधीश
बहसों में उलझे
पेशेवर लोग
अगर उनमें नहीं उपजती
ग्लानि कभी
बेकसूर के
सज़ा भुगतने से......

हत्यारे वे भी हैं
जो सिर्फ नियम के लिए
बनाते हैं बेकसूर को
शिकार
हत्यारी यह सभ्यता भी है
यह सदी भी
हत्यारे शिखर पर बैठे वे लोग तो हैं
जिन्हें हम पूजते हैं।
उनकी उपलब्धियों
क्या हत्याओं के
ढेर से नहीं जुड़ी हैं ?

हत्यारे हम भी हैं
क्योंकि चुपचाप
हम अपने मरने को
भोगते हैं बिना प्रतिरोध।
हाथों को आसमान की ओर
प्रार्थना में उठाने वालों
इस सदी के हत्यारों में
पहला नाम तुम्हारा है
प्रणाम।

लिखूँगा

लिखूँगा वही कविता
जिसके बाद
यह तो खड़े पेड़
ढह जायेंगे
या शब्द
हरहरा कर पिघल जायेंगे

और हम
गूंगों की तरह
इशारों से बात करेंगे ।

लिखूँगा वही कविता
आखीर में
मैं प्रतीक्षा में हूँ
कि तुम्हारे तहखानों से
लावे की तरह भभकेगा कुछ

बस—वे आखिरी शब्द
विलीन होते-होते

शून्य में
अंकित कर जायेंगे
आदमी की आखिरी
चीख ।

चीख से पैदा होकर
शब्द
शून्य को अर्थ देता है
ध्वंस को
शायद वह शब्द
अर्थ कह पायेगा
लिखूँगा वही शब्द
वही कविता

□

डॉ० शिवमंगल सिंह सुमन पर विशेष निबन्ध

मालाएँ गुहने में सूई कहाँ चुभती है ?—'सुमन'

□ प्रभाकर श्रोत्रिय

सुमन को तब से देखा है जब वे गुरांस के फूल थे, और आज जब वे कांस के पुष्प हैं—तब भी हम उन्हें देख रहे हैं। अनुभव की परिपक्वता में वह रूप और रंग तो नहीं है, हाँ, ताज़गी बरकरार है। ऐसा विस्मित भराव जो देखते ही बने—कहाँ, कितना मिलता है। विविधता, सुमन में भीतर और बाहर दोनों से परावर्तित होकर आई है, जिससे उनका कृति व्यक्तित्व चित्र-संयोजन या काम्पोज़िशन बन गया है। वे उत्सव-पुरुष हैं।

एक साधक को पूरी ज़िन्दगी तिल-तिल जल कर, अंत तक भी जो हासिल नहीं होता, वह सुमन को अपने जीवन और सृजन के उदय-काल में ही, एकमुश्त मिल गया था। प्रकृति ने उन्हें काश्मीर जैसी उद्दाम और दुर्लभ सुषमा दी थी। ऊर्जा, सम्मोहन, मादकता और उछाह उनके यौवन के दिन थे, जो उन तक न ठहर कर उन तमाम स्पर्शों में, उस हवा में संक्रमित होते थे, जो उनका परिवेश था। कभी-कभी इतना कुछ पा लेना और दे सकना एक दहशत पैदा करता है, लेकिन सुमन ने आगे बढ़कर उसे आवेग से बांहों में भरा और प्रस्तुति की एक अदा विकसित की। प्रतिभा को उन्होंने अग्नि और चिंता से अधिक दीप्ति और आह्लाद में सहेजा, उसी टकसाल में लोकप्रियता ढली। सफलता और यश की सीढ़ियों पर लगातार चढ़ते हुए भीतर क्या कुछ टूटता या छीजता रहा है—इसे उन्हें छोड़कर कौन जानेगा ? उनके पत्रों में, बातचीत में और बाद की रचनाओं में कहीं-कहीं यह अहसास झलकने लगा है। 'मिट्टी की बारात' में जो वेदना है, वह 'वाणी की व्यथा' में कुछ ज़्यादा ही तिक्त होकर खुल पड़ी है। लेकिन गंगा और गरल की जोड़ी होती है। कंठ में जब गरल सधा हो तभी उन्मत्त गंगा जटाओं में बंधती है, इससे उल्टी बात भी सच है। ऐसा समवेत युग सुमन की रचनाशीलता में—'विश्वास बढ़ता ही गया' और 'पर आंखें नहीं भरीं' के रचना क्षणों में आया था।

सुमन के व्यक्तित्व का केन्द्र लोक-प्रियता है, जो उनके लिए लोक-संग्रह और साहित्य-सृजन दोनों का आधार है। इसने उन्हें बहुत से खेल खिलाए हैं जिनमें जीत भी होती है और हार भी। क्योंकि दूसरों की आंखों में अपने को देखना या दूसरों के द्वारा देखे जाते हुए देखना - एक सर्जक की अंतिम साध नहीं हो सकती। किसी हद तक वह सहज मार्ग है, जबकि, जो सहज नहीं है वही रचनाकार की साधना भी होता है या उसे ही चुनौती भी देनी होती है। इसे दृष्टि पाने की बेचैनी भी कह सकते हैं जिसके लिए हमेशा सर्जक निर्वासन का दंड भोगता रहा है, अकेले छूट जाने का ख़तरा मोल लेता रहा है। ज़ाहिर है कि सुमन के लिए यह एक असाध्य काम था। अलबत्ता कभी उन्हें महसूस हुआ कि वे 'आऊट साइडर' हैं—शायद यही वक्त था जब वे सृजन-पीड़ा के तीव्रतम दौर से गुज़र रहे थे, जो अपना रास्ता आप पाने की बेचैनी होती है।

'सुमन' ने अपने को सदा पथिक माना है—यानी अनवरत गतिमान। अपने यौवन में उन्होंने शायद औरों के बहाने अपने को ही चौकस किया था कि 'पथ भूल न जाना पथिक कहीं!' लेकिन उत्तर वय तक अनुभव ने उन्हें सिखा दिया था कि 'राह कभी एक-सी नहीं रहती, अतएव जैसे-जैसे वह बदलती जाए, वैसे-वैसे पथिक को भी हवा-पानी-धूप के अनुकूल स्वयं को ढालते रहना चाहिए' (मिट्टी की बारात, भूमिका)। यह विचार मूल्यवान हो सकता है, बशर्ते यह आत्म-संघर्ष का पर्याय हो। लेकिन कई बार यह सुविधा और आत्म-स्थापन का तर्क बन जाता है। 'राह' हालांकि बहुत अस्पष्ट शब्द है, जो विचित्र ढंग से छलता है, फिर भी हम उससे किसी सृजन-दिशा का संकेत लेते हुए कह सकते हैं कि वह कोई भी हो सकती है, बशर्ते उसके पीछे कोई आस्था केन्द्र हो; क्योंकि धुरी-हीनता को किसी भी चमकदार शब्दावली के पीछे नहीं छिपाया जा सकता। हमारे पास इसके दो आधुनिक उदाहरण हैं—सूर्यकांत त्रिपाठी निराला और सुमित्रा-नंदन पंत। अपनी विविधता और गत्यात्मकता के सहारे निराला भावी पीढ़ी के सार्थवाह बन सके, जबकि इसी दर्शन ने पंत को 'पल-पल परिवर्तित वेश' देकर खानों में बांट दिया। क्योंकि हवा के रुख में राहें बदलना गत्यात्मकता का प्रामाणिक मानदंड नहीं है। सामयिकता कभी मूल्य नहीं होती, जबकि समय मूल्य होता है, क्योंकि पहली तात्कालिक है और दूसरी धारावाहिक। धारावाहिकता में तात्कालिकता अंतर्हित होती है जबकि तातकालिकता में समय को बांधना मानवता के समस्त प्रयत्नों और संकल्पों के प्रति अविश्वास और क्षणिकता को जन्म देता है—जो जीवन को खंड-खंड करके छितरा देती है। संभव है यह छितराना बहुत कुछ लौकिक दे जाता हो, लेकिन रचनाकार को जो सम्पन्नता मिली होती है, उसके मूल्य पर बाहर की कोई सम्पन्नता उसे सच्चा सहारा नहीं दे सकती—न उस सम्पन्नता की इतनी औकात होती है कि उस पर सर्जनात्मकता निछावर की जाए। राजनीति के उतरते-चढ़ते पारे से रचनाकार का तापमान नियंत्रित नहीं होता—उसे चाहिए निरंतर दृष्टि-सम्पन्नता, अन्वेषण की तलस्पर्शी चेतना और मानवीय संवेदन की प्रगाढ़ता—जिसमें बाहरी व्यवस्था सहयोग या विक्षेप पैदा कर सकती है, वह उसका स्रोत नहीं हो सकती। लेखक का राजनीति तय करना और राजनीतिक का राजनीति तय करना दो भिन्न बातें हैं। मनुष्य की यातनाओं और संलग्नताओं से अपने को जोड़कर, खुद उस आंवे में उतर कर ही लेखक की राजनीति तय होती है। सुमन पर बहिर्मुखता का बहुत अधिक दबाव होने पर भी उनके भीतर जो मानवीय संवेदन हैं,

उन्होंने तात्कालिकताओं के बावजूद उन्हें सहारा दिया है और यहीं उनके कवित्व का मर्म ठहरा हुआ है।

सुमन की मूल आत्मा रोमांटिक है। रोमान भीतर की आविष्ट हवाओं का नाम है। जिसकी ज़रूरत कमोबेश हर कलाकार को होती है। लेकिन इसे नियंत्रण में रखना भी हर कलाकार की सबसे बड़ी तपस्याओं में होता है। क्योंकि जो जितना पागल है उसे बांधना उतना ही मुश्किल है। अगर पकड़ कमज़ोर हुई तो वह आपकी गिरफ्त में रहने की बजाए खुद आपको ही गिरफ्तार कर लेता है। उत्तेजित क्षणों की अनुभूति को हड़बड़ी में रचने का मतलब उबलते दूध को गटकने की तरह है, लेकिन अगर वह निहायत ठंडा हो जाए तब भी बेमज़ा हो जाता है। एक मर्मज्ञ रचनाकार कुनकुने तापमान में अनुभूति को रचना में उतारता है। अगर आप इसका स्वाद लेना चाहें तो 'सुमन' की मध्यकाल की कुछ रचनाओं में उसे गहराते हुए पा सकते हैं, जबकि उनके पूर्व और उत्तरकाल की अधिकांश कविताओं में उबले और ठंडे दूध की तासीर है।

सुमन की रोमांसिक आत्मा ने संवेदन को अनेक स्तरों और रूपों में देखने की कोशिश की है, लेकिन अपनी बहिर्मुखता के कारण कई बार वे संवेदन की महीन बिनाई या आंतरिकता की अपेक्षा उसे स्फीत कर देते हैं। मांसल प्रेम संबंधी रचनाओं में ही नहीं—करुणा और परिशुद्ध राग की कविताओं में भी देह-गंध बहुत तीव्र और आक्रामक हो जाती है। यहाँ तक कि प्रतीकों और संकेतों में भी मांसलता से जुदा होना उनके लिए मुश्किल हो जाता है। उदात्तता के लिए भी कई बार वे प्राचीन ग्रन्थों, कवियों और महापुरुषों का सहारा लेते हुए उसे एक किस्म की पराश्रयता ही देते हैं। सिर्फ इतना है कि ऐसी तमाम कोशिशों में अपने आप से झगड़ती हुई उनकी काव्यात्मा से अनायास साक्षात्कार हो जाता है।

यह उल्लेखनीय है कि सुमन अपनी प्रेम कविताओं के कारण नहीं, (क्योंकि ये उनकी सबसे मार्मिक कविताएँ हैं), उन कविताओं के लिए इतिहास में दर्ज हैं जो उन्होंने सर्वहारा की पक्षधरता में लिखी थीं। यों, आज तक भी यह संवेदना उनकी रचनाओं में दुर्लभ नहीं है, लेकिन कई तरह की विविधताओं, रुझानों और सामयिक प्रसंगों तले वह छुप-सी गई है। मैं नहीं मानता कि कवि के लिए विषय और राग का कोई प्रतिबंध होता है या होना चाहिए, उल्टे बड़ा कवि वही है जिसमें हर चीज़ और भाव को अपने मौलिक संवेदनात्मक रूप में पहचानने और प्रस्तुत करने की शक्ति हो; लेकिन किसी रचनाकार के भीतर विस्फोटित कोई गम्भीर मानवीय संलग्नता अगर हद से ज्यादा अनुपस्थित हो जाए तो स्वयं उसकी पूर्व कृतियों की प्रेरणा और प्रयोजन के प्रति भी संदेह पैदा हो जाता है। यह एक गंभीर साहित्यिक, मनोराजनीतिक और सामाजिक प्रश्न है। लग सकता है कि ऐसे विस्फोट तत्कालीन हवाओं की अनुकूलता में अपने को दर्ज करने वाली आत्म-सम्मोही मानसिकता थी। लग सकता है कि जब राजनीति और परिवेश ने उस तरह की अभिव्यक्तियों को अग्राह्य करार दे दिया तो कवि को आत्म-सम्मोहन के दूसरे ठिकाने तलाशना पड़े। प्रश्न यही है कि कवि के लिए आराध्य कौन है ? स्वयं, स्वयं की सुविधा, तत्कालीन राजनीतियाँ या मनुष्य की मूलभूत पीड़ा, उसकी यातना या लोक-संग्रह की महती चेतना ? यह तो रचनाकार का पक्ष या उस पर टिप्पणी है, लेकिन अपनी केन्द्रीय धारा से सुमन को धीरे-धीरे विस्मृत कर देने वाली मानसिकता भी क्या इनमें से किसी

कारण से प्रेरित नहीं है? यानी अपने दल या राजनीति की रौ में बहने से इन्कार करने वाले कवि की मूल-संवेदनात्मक सर्जना से भी इन्कार करना उसी तरह का है जैसे दलीय परिवर्तन के बाद किसी राजनीतिक को दूसरे मत का या दल का घोषित कर उसकी पूर्व संबद्धता से इन्कार कर दिया जाता है। मेरा विचार है कि इसी दृष्टि के कारण बहुत से रचनाकारों का समग्र अवमूल्यन कर दिया गया है और इस बात पर ग़ौर नहीं किया गया है कि रचना के भीतर जो शाश्वत तत्त्व होता है, वह रचनाकार के बावजूद स्वीकृत या ग्राह्य होता है।

कविता की तरह सुमन की वाणी में भी एक विस्मायक प्रवाह-शीलता है। उन्हें आकर्षक व्यक्तित्व के साथ मंद्र और आविष्ट कंठ मिला हुआ है। मौखिक शब्द को सर्जनात्मकता देने के लिए उन्होंने अनवरत साधना की है। अपनी विलक्षण स्मरण शक्ति के सहारे वे वक्तृत्व को अनोखी समृद्धि और रोचकता देते हैं। उच्चरित शब्द को समस्त आंगिक, वाचिक और सात्त्विक भाव-सत्ता देकर प्राणवान और सम्मोहक बनाते हैं। ऐसी अदा विरल है। उन जैसा वक्ता और अध्यापक कभी-कभार ही पैदा होता है। अगर वे अपने और दूसरों के प्रति निर्मम हो सके होते; अगर सत्य और तत्त्व का उनकी वाणी पर अधिक दबाव होता; अगर शिल्प और सम्मोहन की बजाए वे तात्त्विकता, सार्थकता और केन्द्रगामिता को अधिक साधते तो सुमन जैसे वक्ता की गणना के बाद (कम से कम हिन्दी के आधुनिक युग में) अनामिका सार्थक हो जाती।

सुमन एक सहृदय, उदार और उदात्त मनुष्य हैं। उन्होंने जितना प्रेम पाया है, उतना देना भी जाना है। उनके व्यक्तित्व और कृतियों में रंगारंग विविधता और भराव है। सौजन्य, नम्रता, सहिष्णुता, क्षमा और ममता से भरे सुमन सबको प्रिय लगे हैं, सम्पूर्ण मनुष्य लगे हैं।

☐

कहानी

नमकदान

□ नासिरा शर्मा

"अल्लाह अन्ना बुआ ! गुल सारे घर में नमक बिखेरती फिर रही है और आप उसे मना नहीं कर रही हैं ?" रेशमा ने गुसलखाने से निकलते हुए कहा "ए उई ! तुम तो बैठे बिठाए अच्छा खेल निकालेव हो बहिनी ?" कहती हुई अन्ना नाक पर उँगली रख कर उछलती गुल को लम्हे भर घूरती रही फिर घुटनों पर हथेली जमा कर पटरे से उठीं ।

"पता नहीं इस गुल की बच्ची को इस तरह सारे घर में नमक छिड़कने में क्या मज़ा आता है ? दुनिया भर के खिलौने भरे हैं मगर वेग़म का दिल नमकदान में अटका रहता है ।" रेशमा बड़बड़ाती हुई अपने भीगे बालों को गर्दन झुका कर तौलिया से झटकने लगी ।

"हम नहीं देते अन्ना बुआ···हम तो ज़मीन के पाउडर लगा रहे हैं ।" उछलती गुल अन्ना बुआ के हाथों से मछली की तरह फिसली और नमकदान को अपनी नन्ही-सी मुट्ठी में जकड़ कर भागी ।

"अच्छा ठहरो···आज हम तोका बनाइत है ।" हाँफती अन्ना बुआ खाने की मेज़ के दो चक्कर लगा कर ही थक गई ।

"अन्ना बुआ···पकड़ो तो जानें···" कहती हुई गुल कुर्सी पर चढ़ कर मेज़ पर खड़ी होकर नमक छिड़कने लगी ।

"देत हो बहिनी की गोहराएं साधु बाबा को···?" अन्ना बुआ ने अपना आखरी हथियार फेंका ।

"नहीं······नहीं अन्ना बुआ नहीं ।" हंसती गुल खौफ से वेदम सी हो गई । हाथ ढीला होकर नीचे गिरा और चुपचाप नमकदान अन्ना बुआ की तरफ बढ़ा दिया ।

"आज से नमकदान आप बर्तन की अलमारी में रखिए, मैं ज़रूरत के वक्त खुद उठ कर निकाल लिया करूँगी ।" कहती हुई रेशमा बालों को तौलिया में लपेटती हुई आँगन से खाने के कमरे में आई ।

"अम्मी···अन्ना बुआ मुझे डराती है ।" गुल मां को देख कर रूँहासी हो उठी ।
"हम तुम से नहीं बोलते ।" रेशमा बिना बेटी की तरफ देखे बेडरूम की तरफ बढ़ी
"क्यों मम्मी क्यों ?" दौड़ती गुल माँ से जाकर लिपट गई ।

''तुम हमारा कहना नहीं मानती···आज से हमारी तुम्हारी खुट्टी···'' रेशमा ने कपड़े की अलमारी खोलते हुए कहा ।

''हम खुट्टी नहीं करते,'' पीछे हटती हुई गुल बोली ।

''हमने कर दी और अब हम न बोलेंगे न तुम्हें प्यार करेंगे ।'' कहती हुई रेशमा ज़फर के कपड़े निकालने लगी ।

''मिल्ली कर लो मम्मी मिल्ली···'' ठुनकती मुँह बिसोरती गुल मचलने लगी ।

''एक शर्त पर...अब नमक ज़मीन पर नहीं गिराओगी···कितनी बार समझाया नमक गिराना गुनाह है गुनाह ।'' रेशमा बिस्तर पर बिखरे अखबार उठाते हुए बोली ।

''गुनाह क्या होता है मम्मी ? पलंग के गद्दे पर उछलती हुई गुल पूछने लगी ।

''गन्दी बात ! क़ियामत के दिन अल्लाह मियाँ पलकों से नमक उठवायेंगे तब उठाते बनेगा तुम से ?'' रेशमा ने गाऊन टाँगते हुए पूछा ।

''क़ियामत का दिन कब आयेगा ?'' कुछ सहम कर गुल ने पूछा । उसका उछलना बन्द हो गया था और अब वह पलंग के सिरहाने पर बैठ गई थी ।

''जब सब मर जायेंगे और···'' रेशमा ने बेटी को नीचे उतारते हुए कहा ।

''सब मर जायेंगे ? मरना क्या होता है ?'' बीच में गुल बोल पड़ी ।

''तुम्हारा सर···यह बच्ची है कि पूरी बुकरात !'' झुंझलाई-सी रेशमा बालों को तौलिया खोलने लगी ।

''मान गया तुम्हें रेशमा···इस पाँच साल की बच्ची को तुम ज़िन्दगी और मौत का फलसफा समझा रही हो···बच्चे तो शरारत करते रहते हैं···दरगुज़र करो···हम भी कभी बच्चे थे यह सोच कर चशमपोशी की आदत डाल लो ।'' ज़फर दाढ़ी बनाते हुए बोले ।

''इसी से बिगड़ रही है गुल ! जब मैं उसे डाँटती, समझती हूँ तो आप बीच में बात टोक लेते हैं···क्या खाक सुधरेगी शैतान की खाला ।'' रेशमा को सचमुच गुस्सा आ गया था । कपड़े समेटती हुई वह कमरे से बाहर निकली ।

''करवा दी न लड़ाई ।'' ज़फर ने हँसते हुए बेटी को लिपटाया और उस पर बूसों को बौछार कर दी ।

''अब्बू···अम्मी गन्दी !'' लाड़ में भर कर गुल मिनमिनाई और बाप के गाल पर प्यार किया ।

''नहीं बेटी ! ऐसे नहीं कहते, माँ के पैरों के नीचे तो जन्नत होती है ।'' ज़फर ने बेटी के गाल को हल्के से थपथपाया ।

''जन्नत किसे कहते हैं अब्बू ?'' गुल बाप के कन्धे पर चढ़ते हुए बोली ।

''अपने इस घर को ।'' कह कर ज़फर ने बेटी को कन्धे से नीचे उतरा और दाढ़ी बनाने का सामान समेटने लगे ।

× × × × ×

''गुल ! इतना गर्म पानी आँगन में मत फैंको बेटी ।'' रेशमा परेशान होकर बोली ।

''पानी अन्दाजे से ज्यादा हो गया था अम्मी ।'' कलफ पकाते हुए गुल बोली ।

''तो उसे किसी खाली बर्तन में डाल देती··इतना जलता पानी···ज़मीन को कितनी तकलीफ पहुंची होगी बेटी ?'' रेशमा के चेहरे पर दुख फैला ।

''आप भी कमाल करती हैं अम्मी ! सारे दिन सूरज जो उसे अपनी कड़ी धूप से झुलसाता रहता है उसे आप कुछ नहीं कहतीं और मेरे इतना-सा पानी डालने में उसे तकलीफ पहुँच गई ?'' गुल ज़रा नाराज़गी से बोली।

''किसी बेगुनाह को सताना गुनाह है। यह न समझना कि ज़मीन के जान नहीं होती है।'' रेशमा ने बेटी की नाराज़गी को अन्दर-अन्दाज करते हुए कहा।

''आप भी खूब हैं अम्मी ! सूरज ग्रहण लगता है तो न खुद कुछ खाती हैं न किसी और को खाने देती हैं यह कह कर कि सूरज मुसीबत में है। उसके लिए दुआ करो ताकि वह बेचारा इस मुसीबत से नजात पा जाए...उधर हमारी साइंस कुछ और बताती है। अब आप ही बताइए अम्मी कि किस की बात मानूँ ?'' गुल ने धुले हुए कपड़ों के नमूनों के छोटे-छोटे टुकड़ों को कलफ के घोल में डाला।

''जो इल्म अहसास के सोते सुखा दे वह इल्म क्या बेटी ? साइंस नई है मगर हमारे यह रिश्ते बहुत पुराने हैं। हम नए और पुराने दोनों के साथ भी जी सकते हैं। सूरज, मान लो हमेशा के लिए ठंडा पड़ जाए तो क्या हमें साइंस नया सूरज दे सकती है ? मन्तिक जिसे तुम लाजिक कहोगी बहुत ज़रूरी है आज की ज़िंदगी में, मगर अहसास की कीमत पर नहीं...अहसास इन्सान की पहचान है वरना काम तो अब तुम्हारा रॉबट भी करने लगा है।'' रेशमा ने बेटी की बेचैनी को समझते हुए नर्म लहज़े में कहा।

''यानी कि हम पुरानी घिसी पिटी बातें आँख बन्द करके कबूल करते जायें ?'' गुल के चेहरे पर बगावत की मद्धिम हँसी की छाया फैल गई।

''जो पुरानी बातें होती हैं वह वक्त के साथ पुरानी पड़ कर खुद खत्म हो जाती हैं। अहसास और कानून में ज़मीन आसमान का फर्क है एक इन्सान के अन्दर से फूटता है दूसरा उस पर लादा जाता है। इन्सान का सूरज ज़मीन, पानी, आग से रिश्ता बहुत पुराना है और वह कभी पुराना नहीं पड़ सकता है बेटी !'' रेशमा ने इस यकीन से कहा कि गुल कुछ जवाब न दे सकी।

''कपड़ा फैलाए देव बहिनी नाही तो धूप चली जाइ।'' अन्ना बुआ बरामदे के दर पर बैठी नए चांदी के खिलाल में काला डोरा बट कर डालती हुई बोली।

''मेरी सिलाई की कापी पूरे क्लास में सब से बढ़िया है।'' कहती हुई गुल कढ़ाई के नमूनों को चबूतरे पर बिछे अखबार पर फैलाने लगी।

''कापी क्या मेरी बेटी इस साल नम्बर भी सबसे अच्छे लायेगी।'' हँस कर रेशमा ने बेटी का सिर छुआ।

''कौउन से दर्जे में पहुँची बहिनी ?'' अन्ना बुआ ने खिलाल को गले में डालते हुए पूछा।

''अन्ना बुआ कितनी बार बताऊँ, दसवे में ?'' चिढ़ी-सी गुल बोली।

''अब हमें यह सब याद रहता है क्या ?'' अन्ना बुआ ने टाँग आगे करके चूड़ीदार पायजामे की चूड़ी ठीक की।

''अभी बारहवाँ फिर पन्द्रहवाँ और...'' गुल बोलती गई।

''अब बहुत होय गवा...आगे पढ़े की ज़रूरत नाही है। घोड़ा जैसी लड़की सब जगह दौड़ती अच्छी नाही लगती है। अब शादी ब्याह का सोचो बहू बेगम !'' अन्ना बुआ कहती हुई उठीं।

"अम्मी आप इन्हें मना कर दीजिए···या तो यह मेरे पोनीटेल की बात करती हैं या फिर शादी की···इन्हें कोई और काम नहीं रह गया है क्या ?" पैर पटखती गुल चीखी ।

"मना कर दूंगी ।" हँसती हुई रेशमा बोली ।

"अन्ना बुआ आकर अपनी हंडिया भून लो वरना खाने में देर हो जायेगी ।" बावर्चीखाने से खानसामा की आवाज़ आई ।

"मसाला महीन पीसा है कि नहीं ?" अन्ना बुआ सर पर दुपट्टा जमाती हुई बोलीं ।

"हाँ···हाँ···यहाँ सब तैयार है । हंडिया भोसैले पर चढ़ा दी है···मैं चला···" खानसामा कहता हुआ पिछवाड़े के दरवाज़े की तरफ बढ़ा ।

"चला बीड़ी पीने···यह नशा मुए को ले डूबेगा ।" बड़बड़ाती अन्ना बुआ बावर्चीखाने में घुसीं ।

"अन्ना बुआ आज आम का पना बना लीजिएगा लू चलने लगी है ।" रेशमा कहती हुई कमरे की तरफ बढ़ी ।

गुल ने कपड़े फैला कर हाथ धोए फिर इस्त्री करने के इन्तज़ाम में लग गई । सुबह की नर्म धूप कुछ गर्म होकर आधे आँगन में फैल गई थी ।

× × × × ×

"अब जो गुज़र गया उसे भूल जाओ रेशमा, गुजरा कल तुम्हें आज इतना क्यों परेशान कर रहा है ? इससे आने वाला कल भी खराब करोगी···भूलने की आदत डालो माफ करना सीखो ।" ज़फर ने गहरी साँस भरते हुए कहा ।

"मेरे हल्क से यह बातें किसी हाल में नीचे नही उतरती हैं, अब मैं क्या करूँ ?" रेशमा ने सामने पड़े खत को उठाते हुए कहा ।

"रेशमा ! ज़िन्दगी उसूल की किताब नहीं है ।" ज़फर ने कहा ।

"मान लेती हूँ मगर उसूल के बिना ज़िन्दगी, ज़िन्दगी नहीं होती ।" रेशमा ने खत को तह करके लिफाफे में रखते हुए कहा ।

"तुम्हांरी बात सोलह आने सही है मगर सिर्फ उसूल ही तो ज़िन्दगी की हकीकत नहीं है । आज जो कुछ सलमान के साथ हुआ उसे तुम जो भी कहो मगर जानबूझ कर सलमान ने कुएँ में छलांग लगाई नहीं, आज हालात ने उसे अन्धे कुएँ में ला पटखा है तो अब बेचारा क्या करे ?" ज़फर गहरी सोच में डूबी आवाज में बोले ।

"बेचारा मत कहिए, अगर यह गलत कदम वह उस वक्त न उठाता तो आज उसकी यह हालत भी न होती···सब ने मना किया था मगर उस वक्त तो वह सारी दुनिया फतह करने के नशे में थे ।" चिढ़ कर रेशमा बोली और खत को तकिया के नीचे रखा ।

"अब जब सांप निकल गया तो लकीर पीटने से क्या फायदा ? रिश्तेदारी के नाते हमारा फर्ज बनता है कि हम उसकी मदद करें वरना तुम्हारी उसूली किताब हमें एक दिन मुजरिम करार दे देगी ।" जफर ने हँसते हुए बिखरी फाइलें बन्द कीं । लैम्प बुझाया और बिस्तर पर दराज़ हो गए ।

× × × × ×

"अरे नहीं जनाब, मैं छुआछूत पर यकीन नहीं रखता; क्या कहूँ आपसे बचपन से कुछ आदत ऐसी पड़ गई है कि जब तक कोई जिगरी दोस्त न बन जाए तब तक किसी के घर का नमक नहीं चख सकता हूँ।" जफर ने शर्मिंदा-सी आवाज़ में कहा।

"तो हमें अपना दोस्त समझें !" मेज़बान हँसे।

"दोस्त तो आप हैं तभी तो आपके साथ बैठा चाय पी रहा हूँ मगर···बहरहाल नमक चखने की अपनी एक ज़िम्मेदारी होती है। नमक हरामी, नमक हलाली की बात घर में इस पुख्तगी से ज़हन में बिठा दी गई है कि उसका निकलना मुश्किल है।" ज़फर ने चाय का घूँट भरा।

"संस्कार हैं अपने-अपने" मेज़बान ने कहा।

"ऐसी बातें कभी गांव वगैरह में सुनने में आती थीं अब शहर में रह कर इनका पालन कौन करता है।" धीमा-सा स्त्री स्वर उभरा।

"बात ठीक कह रही हैं आप मगर हमारे बाप दादा गाँव के थे और शहर भी तो उसी गाँव का हिस्सा है इसी मुल्क की ज़मीन···" ज़फर ने खाली प्याली रखी और पाईप मुँह में लगाया।

"आज आपकी भाषा सुनने में बड़ी विचित्र लग रही है कभी-कभी हम भी इस निराली भाषा को जीवन के दूसरे सन्दर्भ में बोलते हैं मगर सच पूछिए अब इसके समझने वाले खत्म हो रहे हैं।" मेज़बान ने कहा।

"काम हो गया बेटे चलें ?" ज़फर ने पूछा।

"बस अब्बू, दो मिन्ट !" कहती हुई गुल कलम चलाने लगी। टायफायड की वजह से दो महीने कालेज नहीं गई और अब सहेली के घर आकर नोटस उतार रही है। आफिस की वापसी पर ज़फर बेटी को लेने चले आए हैं।

× × × × ×

"ज़मीन पर क्या ठोका पीटी लगाए हो अज़ीज़ ?" अन्ना बुआ की झुंझलाई आवाज उभरी।

"कितनी बार तुम्हें मना किया है कि ज़मीन पर सामान आहिस्ता से रखो मगर हर बार तुम भूल जाते हो?" रेशमा ने सख्ती से कहा।

"आखिर उसके भी जान होती है।" उसी लहजे में धीरे से गुल ने कहा और होंठों की हंसी को दुपट्टे से छुपाया।

"अरे आज हम एका मारेंगे कल ई हमें दवाई...जवानी के जोश में आकबत तक भूल जाता है।" अन्ना बुआ बड़बड़ाने लगी उन्हें बुखार है...हफ्ते भर से पलंग से लगी हैं पहले का खाया पिया बदन है इसलिए काठी मजबूत है।

"ज़मीन बद दुआ भी दे सकती है इसका भी खौफ नहीं दिल में !" रेशमा लाया सामान उठवाकर जिन्स की कोठरी में रखवाने लगी।

"उफ् ! यह अम्मी अब्बू और इनकी अन्ना बुआ जाने किस सदी में जीते हैं, कोई नमक नहीं खा रहा है कोई ज़मीन से डर रहा है, कोई नेकी और बदी की बात कर रहा है···इतनी पाबन्दी में आदमी जी कर बढ़ेगा क्या, खाक ?" उलझी-सी गुल ज़ोर से किताब मेज़ पर पटख कर खड़ी हो गई।

× × × × ×

"खूब बहाओ नमक नाली नापदान में......।" अन्ना बुआ गरज़ी।

"कुरान पाक की कसम अन्ना बुआ हम समझा आटा है ।" बर्तन धोते-धोते करीमुन सहम कर बोली ।

"ई कहो बहिनी आँखों पर चर्बी चढ़ गई है तोहार । वरना फ्रिज में रखा नमक आटा दिखने लग गवा ?" अन्ना बुआ की आवाज आँगन में लहराई ।

"अब से ध्यान रखबे अन्ना बुआ" करीमुन खुशामदी लहजे में बोली ।

"नाली देखो......ऐही दाने के मारे तुम काम करते हो......निगोड़े कुत्ता-बिल्ली मर गये हैं जो जूठा नाली में बह रहा है ? खबरदार जो ई बेअदबी दाना की दोबारा देखबे तो चुटिया पकड़ कर निकाल दे बय ।" अन्ना बुआ का चीखना बिल्लाना जारी था । करीमुन झपटकर चावल के दाने और रोटी के टुकड़ों को नाली से समेटने लगी ।

"यह अन्ना बुआ बहुत चिल्लाती है अम्मी ! कल मेरा पेपर है और यह...।" गुल गुस्से से तनतनाती हुई माँ के पास पहुँच कर बोली ।

"बुढ़ापा है, गुस्सा जल्दी आ जाता है ।" रेशमा ने धीरे से कहा ।

"आखिर आप लोग उन से इतना डरते क्यों हैं ? खानसामा की तरह वह भी तो नौकर है, उन्हें आप डाँटती क्यों नहीं हैं ?" गुल गुस्से से बोली ।

"गुल !" ज़फर की तेज पाटदार आवाज गूँजी ।

"जी अब्बू !" गुल उनकी आवाज की तेज़ी से सहमकर दो कदम पीछे हट गई । रेशमा हड़बड़ा कर खड़ी हो गई ।

बिना कुछ कहे ज़फर सर झुकाए कमरे से बाहर लान में निकल आए । गुल ने परेशान सी नजरों से माँ को देखा । रेशमा ने उसे जाने का इशारा किया और खुद ज़फर के पीछे गई ।

× × × × ×

सारे घर में एक ऐसा सन्नाटा फैला पड़ा है जैसे एक बड़ा तूफान आकर गुज़र गया हो । हमदर्दी और अफसोस करने वालों का तांता बँधा हुआ था । जो घर के हर फर्द के चेहरे पर मिले जुले तास्सुर जगा रहा था । इस सब से बेन्याज अन्ना बुआ का कोसना जारी था ।

"अरे देखना इस पर कड़कती बिजली गिरेगी । जब दो दिन का था तब से इस घर के नमक पर पल कर बढ़ा हुआ है । क्या पता था हमें कि जो पेड़ हम आम समझ कर लगा रहे हैं वह बबूल का निकलेगा ।"

"इस सब के कहने से अब क्या फायदा ?" रेशमा ऊब कर कहती ।

"मेरे सीने पर साँप लोटता है बहू बेगम...पुलिस दरोगा से पहले उस आस्तीन के साँप की खबर लूँगी । दे खटपटों, दे खटपटी की मार से उठाकी चँदिया साफ कर दूँगी... मैं भी अपन बाप के नुत्फे की नहीं जो...।" गुस्से में अन्ना बुआ हमेशा साफ जुबान बोलने लगती थीं ।

"पहले मिले तो !" झुँझलाकर गुल कहती ।

"अरे हम इस घर का नमक खाइ है गू नाही ।" तनतनाती अन्ना बुआ ।

"तौबा है अन्ना बुआ आप तो जैसे अपने होश हवास खो बैठी हैं......बाहर लोग बैठे है ।" रेशमा आखिर में गुस्सा हो जाती ।

"मैं इस घर की नौकर नहीं हूं जो डेढ़ सेर का ताला मुँह पर डाल लूँ...मैं ज़फर मियाँ की खिलाई उनकी अन्ना हूँ बड़ी दुल्हन बेगम के सीने में फोड़ा निकल आया था ।

मैंने पूरे डेढ़ साल अपना खूने ज़िगर ज़फर मियाँ को पिलाया है। मैंने उन्हें पैदा नहीं किया तो क्या पाला भी नहीं ? अरे पालने की मुहब्बत पैदा करने से ज्यादा होती है। कोई मेरे बेटे के घर में सेंध लगा जाए तो मैं ठठ्ठा मार कर हँसूं ? पचास साल हो गए हैं मुझे इस ड्योढी पर बैठे हुए अरे अज़ीज़ तुझे मरते हुए पानी भी नसीब न हो"।

"तुम ज़रा चाय देख लो, नाश्ता ठीक से भेजना······मैं मेहमानों के पास जाकर बैठती हूँ।" तंग आकर रेशमा ने गुल से कहा और उठ कर ड्राइंगरूम की तरफ बढ़ गई।

× × × × ×

दो हफ्ते पहले रेशमा बैंक के लाकर से जाकर सारे ज़ेवर उठा लाई थी इस ख्याल से कि खानदान की दोनों शादियों में शिरकत करने के बाद वह इन गहनों को दुरुस्त करायेगी। रेशमा ने एम० ए० कर लिया है। कई पैगाम आए पड़े हैं। बात तय हुई तो फिर शादी में देर ही कितनी लगेगी। अपनी तरफ से तैयारी पूरी रखनी चाहिए।

खुदा को कुछ और ही मंजूर था। एक रात जब वे लोग किसी पार्टी से लौटे तो अलमारी को खुला पाया और जेवरात के डिब्बों को गायब···अज़ीज़ पर शक तो दूर यकीन करना मुश्किल हो रहा था कि उसने यह काम किया है। उसे पढ़ा लिखा कर नौकरी भी दिलवा दी थी ज़फर ने। रेशमा का ख्याल था कि गुल की शादी के बाद उसका भी ब्याह करने की मगर वह गहनों और नकदी के साथ ऐसा गायब हुआ जैसे गधे के सर से सींग।

× × × × ×

"हमारी तालीम में ज़रूर कहीं कोई कमी रह गई थी रेशमा···।" दुख से ज़फर कहते।

"मुझे भी लगता है।" ठंडी साँस भर कर रेशमा कहती।

"क्या लगता है।" ज़फर ने रेशमा के लहज़े की तल्खी से चौंक कर उसे देखा।

"यही कि आखिर साँप का बेटा सपोला ही होता है। लाख उसे दूध पिलाओ तो क्या उसके अन्दर का ज़हर मर जाएगा। वह काटना भूल जायेगा ?" रेशमा ने कहा।

"अफसोस है मगर हमेशा ऐसा नहीं होता है।" ज़फर उदासी से बोले।

"मैंने तो यही देखा है और यहां भी अपने घर में कि चोर का बेटा डाकू होता है।" रेशमा गुस्से से बोली।

कमरे में काफी देर खामोशी छाई रही। ज़फर मुँह सर झुकाए बैठे रहे। रेशमा आँखों पर हाथ रखे लेटी रही। एकाएक ज़फर ने बड़े दुख से कहा।

"मुझे पता है औरतों को जेवर कितने अज़ीज़ होते हैं, फिर यह तो खानदानी विरासत थी। हमारी शान और पहचान थी।"

"खानदानी विरासत इन बेजान चीज़ों में नहीं रहती बल्कि इन्सान के किरदार में झलकती है और शान भी वही जो इन्सान की शख्सियत में बोले। जो गया आपकी जान का सदका गया। मुझे माल जाने का कतई दुख नहीं है।"

"कहती तो ठीक हो मगर वह भारी जेवर······।"

"मैंने तो जी भर कर ओढ़ पहन लिया है अब दिल में कोई हसरत बाकी नहीं रह गई है। रहा, सवाल गुल का उसे यह भारी जेवर कब पसन्द थे। 'लाकर' की जीनत ही बनते। मैं उसकी पसन्द के हल्के खूबसूरत ज़ेवर बनवा दूंगी कम से कम रोज पहन तो

सकेगी······जो चला गया सो चला गया। दिल का धड़का बन कर रह गया था। अब वह खौफ खत्म हुआ।" रेशमा ने सँभली आवाज़ से कहा और ज़फर के शाने को थपका।

"खुदा तू देख रहा है। इन्साफ करना···वह निगोड़ा सगीर डिप्टी साहब का नौकर रोज सुबह शाम झोली फैलाए कभी चाय कभी तेज़ पत्ता माँगने चला आता था वह चोरी करता तो बात भी समझ में आती मगर इस झाड़ू फिरे दोज़खी अज़ीज़ को क्यों मौत आई थी? अरे डाका डालना था तो अपना घर क्यों? पास पड़ोस में एक से एक पैसे वाले पड़े हैं। इब्राहीम मियाँ की तिज़ोरी तोड़ लेता जिस में सूद का रुपइया खचाखच भरा है। यहाँ मेहनत की कमाई पर हाथ डाला है इसकी मार दोहरी पड़ेगी तुझे अज़ीज···।

"रेशमा, ज़रा अन्ना बुआ को जाके रोको।" ज़फर उनकी आखरी बात से हड़बड़ा गए।

"मना करती हूँ मगर जब वह मानें तब न? उल्टे इस वक्त इतनी साफ जबान में बिगड़ रही है कि सुनने वाला समझेगा मैं बैन कर रही हूँ।" रेशमा कुढ़ी परेशान-सी कमरे से बाहर निकली।

"कल सुबह होते ही मैं मौलवी साहब की दरगाह पर जाऊँगी, न अडां कटवाया तो कहना, ऐसी दुआएँ पढ़वाऊँगी कि कलेजा कट-कट कर गिरेगा···गली-गली दीवाना होकर फिरेगा, कुत्ते तक उसकी लाश पर नही मूतेंगे।" अन्ना बुआ बीच आँगन में खड़ी कोस रही थीं।

"बस बस अन्ना बुआ, बहुत हो चुका, जान का सदका गया, अब कोसने काटने से कहीं उल्टा असर न पड़े···सब्र से काम लीजिए, खुदा की लाठी में आवाज नहीं होती है।"

"हां, वहाँ देर है मगर अन्धेर नहीं···जब सब्र नाही होत तभ्य मुँह से आवाज़ निकलत है बहिनी।" कहती हुई अन्ना बुआ सुस्त सी पलंग पर जाकर लेट गई।

"सब्र का फल मीठा होता है···यह भी कह रहे हैं कि रात ज्यादा हो गई है अब अन्ना बुआ को आराम करना चाहिए।" कहती हुई रेशमा ने अन्ना बुआ के कन्धे पर हाथ रख कर उन्हें लेटने में मदद दी।

"इस घर के नमक में जस, नाही है बहिनी।" अन्ना बुआ मुंह ही मुंह में बुदबुदाई।

अन्ना बुआ को लिटा कर रेशमा आँगन में आई और दुआ पढ़ कर उसने तीन बार ताली बजा कर दस्तक दी और फिर अपने कमरे की तरफ बढ़ी। बाहर सन्नाटा फैल चुका था। चौकीदार की सीटी गूंज रही थी। गुल के कमरे की रोशनी जल रही थी।

"अब यह हिफाज़त किस लिए?" ज़फर ने रेशमा से पूछा।

"इस घर के लिए। वह जेवर तो सिर्फ घर की दौलत थे नहीं?" रेशमा ने तन्ज़ीया मुस्कराहट के साथ जवाब दिया।

'हाँ, जब इन्सान से एतमाद टूटता है तो खुदा पर यकीन पुख्ता होता है।" टूटे से ज़फर बोले।

"शायद गुल ठीक ही कहती है कि हम पुराने हमारी सोच पुरानी······बदलते वक्त में हमारी क्या अहमियत है?" रेशमा ने धीरे से कहा "पता नहीं?" सोच में डूबे ज़फर बोले। उनकी नज़रों के सामने पच्चीस साल पहले का मंजर घूम गया। जब अज़ीज़ के बाप को फाँसी हुई थी और उसकी माँ सकीना उसकी पैदाईश के दूसरे दिन ही,

मर गई थी । अज़ीज़ का मामू ज़फर के घर में काम करता था । उसकी हालत पर तरस खाकर वह मासूम ज़फर के घर पलने लगा । उसका बचपन उसकी जवानी, उसकी बातें, उसका चेहरा ज़फर को याद आ रहा था । इतनी लम्बी ज़िन्दगी साथ-साथ गुज़ारने के बाद क्या इन्सान-इन्सान को सही अन्दाज़ से पहचान पाता है ?

× × × × ×

जून का महीना तपते दिन । सारा दिन कमरे और रात कूलर के सामने गुज़र जाती थी । ऐसी ही गर्म उमस भरी दोपहर में गुल ने परेशान होकर माँ से कहा ।

“तारीख तय करने से पहले अम्मी आप मुझ से पूछ तो लेतीं ?”

“पूछना क्या था बेटी ? तुम सब कुछ जानती थी । पिछले तीन साल से बात चल रही थी ।” रेशमा ने हँस कर कहा ।

“मगर अम्मी इस तरह……।” गुल रूहाँसी होकर बोली ।

“बात क्या है ? लड़का पसन्द नहीं ?” रेशमा बेचैनी से बोली ।

“अम्मी यह शादी मेरी मौत होगी । मैं यह शादी कभी नहीं करूंगी ।” उदास मगर ठहरे लहजे से गुल ने कहा ।

“क्या ?” रेशमा ने बेटी को चौंक कर देखा सचमुच गुल बड़ी हो गई थी ।

“हाँ अम्मी, आप कुछ कीजिए, अब्बू को समझा कर मना लें मैं…मैं जमाल को” हिम्मत करके एक झटके में गुल अपनी बात कह गई ।

“तुम्हें जो कदम उठाना था तुमने उठा लिया । हमारी मर्जी को जाने बिना… अब तुम जहां खड़ी हो उसके एक तरफ कुआँ दूसरी तरफ खाई है । इसके बीच का अब कोई रास्ता नहीं बचा है ।”

“जमाल ऐसा लड़का नहीं है आप गलत समझ रही हैं ।”

“जानती हूँ बिना खानदान, बिना घर बार के यतीम लड़के को लड़की देने का दुख तुम नहीं समझोगी । समधियाने का सुख एक दूसरी तरह का इत्तमिनान देता है इसको तुम अभी नहीं समझ सकोगी । क्योंकि तुम ने जमाल को…और हमने तुम्हें चाहा है । हमारी मंजिलें अलग-अलग हैं ।”

“अम्मी प्लीज़ ।”

“तुम्हारे अब्बू को बहुत रंज पहुँचेगा शायद उन्हें यकीन भी न आये ।”

रेशमा के जाने के बाद गुल सोच में डूब गई । अम्मी समझतीं है कि जैसे मैं अपनी
ज़िन्दगी के बारे में खुद कोई फैसला नहीं ले सकती हूं । ज़मीन, आसमान के लिए उनका
दिल दुखता है मगर अपनी पैदा की हुई बेटी की पसन्द पर वह खुश होने की जगह
ग़मग़ीन हो उठीं ।

मैंने यह सब कुछ जानबूझ कर थोड़े ही किया था । जाने कब जमाल मेरे दिल व
दिमाग पर छा गया । मेरे बस में कुछ रह गया था क्या ? दिल कानों में इस ज़ोर से
धड़कता था कि दूसरी कोई आवाज़ सुनाई नहीं पड़ती थी । उस हालत में अक्ल क्या काम
करती ? अब जमाल को जब खुदा मान लिया तो उस ने मुकरना क्या ? अब्बू ने आज
तक मेरी कोई बात टाली नहीं है । जिस खिलौने की तरफ मेरी उँगली उठी वह खरीद
दिया । यह तो मेरी ज़िन्दगी का सवाल है । वह मेरी पसन्द का ज़रूर ख्याल रखेंगे ।

× × × × ×

"मैं इतनी जल्दी मरै वाली नाही हूँ बहिनी । अभ्य अपना पड़पोता देख कर मरयूँह ।" अन्ना बुआ बच्चे की दुलाई में लचका टाकती हुई बोलीं ।

"वाह अन्ना बुआ और हमारे पड़पोते का मुँह नहीं देखोगी क्या ?" गुल ने हँसते हुए कहा ।

"हम में कौन से सुरखाब के पर लग गए हैं बहिनी जो दो सौ साल ज़िन्दा रहिबे ?" अन्ना बुआ हँसी ।

गुल का नवाँ महीना लगा है । जमाल दो हफ्ते से नौकरी के सिलसिले से बाहर गया हुआ है । ज़फर ने अपने घर दामादू को अच्छी नौकरी दिलवा दी है । देखने सुनने में जमाल में कोई बुराई नहीं है मगर फिर भी दोनों लोगों के सामने अपने को छोटा महसूस करते हैं जब कोई पूछ लेता है कि लड़की की ससुराल कहाँ है ? फिर खुद दिल को समझाते लड़की दामाद पास हैं दिल को चैन है यही उनकी खुशनसीबी है ।

× × × × ×

"सिद्दीकी साहब को किसी दिन खाने पर बुला लेते हैं ?"

"वक्त कहाँ है मेरे पास ?"

"इन दिनों तुम बहुत मसरूफ रहने लगे हो ? पुराने दोस्तों के लिए भी वक्त निकाल नहीं पाते हो आखिर सिद्दीकी साहब बाहर से आये हैं ?

"देखा जायेगा अगली बार······दो प्रोजेक्टस आ गए हैं उन्हें मुझे इन्हीं दो दिनों में खत्म करके भेजना है । रात के दस ग्यारह बजे लौटूँगा तो क्या खातिर कर पाऊँगा उनकी ?"

"यह बच्चे······रूफी को सोने नहीं देते हैं ।"

"कहीं फिर किसी ने टाफी बगैरह मुँह में न डाल दी हो ।"

"अन्ना बुआ तो पड़पोते का मुँह देखने की कसम खाए बैठी थी मगर जब पड़पोता हुआ तो उससे पहले ही चल दीं ।"

"उनकी क्या गलती है इसमें । तुम्हीं ने एक के बाद एक लड़कियाँ तले ऊपर पैदा करके उनके जीने का हौसला पस्त कर दिया । तीसरी औलाद लड़का ही होगी इसकी क्या गारण्टी थी ?"

"हफ्ता भर और जी लेतीं······उनकी मौत के सात दिन बाद ही तो रूफी पैदा हुआ है । दोनों बच्चियों को किस जतन से उन्होंने पाला था । उनकी कमी बहुत महसूस होती है ।"

"घर की बुजुर्ग थीं ।"

"शाम को मुझे डाक्टर के यहाँ से अब्बू की रिपोर्ट लाने जाना होगा । सोचती हूँ अम्मी का मेकअप भी करा लूँ । कई दिनों से सर में दर्द की शिकायत कर रही हैं ।"

"मैं आ जाऊँगा शाम को जल्दी ?"

"नहीं ! मैं चली जाऊँगी तुम ध्यान लगा कर अपना प्राजैक्ट खत्म करो"

"ठीक है ।"

× × × × ×

शादी के दस साल गुजर गए । गृहस्थी जम गई । बच्चे इतने बड़े हो गए कि अब उन्हें रेशमा की ज़रूरत नहीं पड़ती थी । उनकी अपनी खेल कूद, पढ़ने की दुनिया थी । घर

बंधे बंधाए ढर्रे पर चल रहा था। उसके पास पाँच छ घण्टे का वक्त था। वह इस लम्बे अरसे में कुछ कर सकती है।

"सुनो, अगर मैं कोई नौकरी कर लूँ तो ?"

"क्यों ? घर की जिम्मेदारी कम है क्या तुम पर जो नई आफत को दावत दे रही हो ?"

"मैं दोपहर से बिल्कुल खाली और तन्हा रह जाती हूँ···थोड़ा दिल ही बहल जायेगा।"

"देख लो"

× × × × ×

दिल का दौरा पड़ने से ज़फर चल बसे। रेशमा को भी अब ज़िन्दगी जीने में कोई दिलचस्पी नहीं रह गई थी। रात दिन उनकी यही पुकार थी कि माबूद मुझे चलते पैरक उठा ले। लड़की को फलता फूलता देख लिया। अब दुनिया से कोई चाह बाकी नहीं बची है यही सब सोचती हुई रेशमा कमरे में अकेली उदास लेटी हुई थी।

"शाम को कहीं घूमने-चलते हैं अम्मी ! बच्चे भी कई दिनों से आइसक्रीम खाने की ज़िद कर रहे हैं। मैं जमाल को दफ्तर में फोन करती हूँ।" कहती हुई गुल रेशमा के पास से उठी।

"जमाल साहब कमरे में नहीं हैं ? कहाँ गए हैं ? पता नहीं ? अच्छा मेरा मैसेज··· ओह ! दो दिनों से आफिस नहीं आ रहे हैं···अच्छा, ठीक है।" फोन रख के गुल सोच में डूब गई। आफिस से सारा दिन उठ कर कहाँ जाता है जमाल ? क्या फिर कोई नया प्रोजैक्ट ? इतना काम का करना भी क्या है ? सारा दिन भागदौड़···खैर मैं तो शाम को अम्मी को लेकर निकलूँगी। उनकी तफरीह बहुत ज़रूरी है वरना, अब्बू के बिना वह दिन ब दिन मुरझाती चली जा रही हैं।

शाम को पाँचों घर से निकले। घर से निकलने से पहले गुल ने आफिस में फोन किया कि शायद जमाल आ गया है। फिर नाउम्मीद होकर खानसामा को खाने की हिदायत देकर वह चली गईं।

रात को नौ बजे के लगभग बच्चे घर लौटे तब तक जमाल घर नहीं लौटा था। गुल बच्चों के कपड़े उतारने, उन्हें सुलाने में मसरूफ हो गई।

× × × × ×

"वाह ! कल तुम भी क्वालिटी गए थे ?"

"वह···वह सारा दिन दफ्तर में काम करते-करते थक गया था। शाम को बस यूँ ही······।"

"इस में इतना परेशान होने की क्या बात है ?"

"कुछ नहीं ! मैं परेशान कहाँ हूँ ?"

"तो फिर आराम से रहो।"

दूसरे दिन शाम को जो कुछ गुल ने देखा उसे देखकर वह चुप रह गई। फिर यह चुप्पी उसके मिज़ाज़ का हिस्सा बन गई। उसे जो पता चला वह यह था कि जब कुछ साल पहले जमाल बाहर गया था उस वक्त उसके घर में कई बार खाना खाया था। उस खाने का कर्ज़ चुकाने की खातिर वह उसे भी खाना खिलाने ले गया था। घर मौजूद होने पर भी वह अहसान अकेला क्यों उतारना चाहता था। यह बात गुल को दीमक की तरह

चाटने लगी थी। अक्सर वह सोचती कि उस दो वक्त के खाने में ऐसा क्या था जो जमाल बरसों के खाए उसके घर के नमक से बेवफाई कर बैठा। क्या सचमुच उसके घर के नमक में जस नहीं है ?

× × × × ×

"तुम आजकल नमकदान मेज़ पर क्यों नहीं रखती हो ?" एक दिन कुछ झुंझलाकर जमाल ने कहा। कई महीनों से वह देख रहा था कि उसके माँगने पर उसे अंडे पर छिड़कने के लिए नमक दिया जाता है।

"ताकि 'नमक' याद रहे।" गुल ने धीरे से कहा और ऊपर अलमारी से नमकदानी उतार कर जमाल को दी।

"क्या मतलब ?" कुछ न समझते हुए भी जमाल हँसा।

"लोग नमक को भूलते जा रहे हैं" गुल ने कहा और फिर दिल ही दिल में बोली।

"कियामत के दिन क्या आज भी नमक पलकों से उठाना मुश्किल काम है।"

"मम्मी टोस्ट !"

"हाँ, देती हूँ" कहती हुई गुल बच्चों में डूब गई।

"मैं चलता हूँ शायद शाम को घर लौटने में देर हो जाये तो परेशान मत होना" कहता हुआ जमाल नैपकिन से मुँह पोंछता हुआ उठा और बाहर की तरफ बढ़ा। कार स्टार्ट होने और फिर गेट से बाहर निकलने की आवाज़ आई। जमाल जिस राह पर निकल गया है वहाँ से इतनी जल्दी वापसी मुश्किल है।

"मुझे चश्मपोशी की आदत डालनी चाहिए। दूसरों की बुराई को नजरअंदाज करने में ही अब ज़िन्दगी का मन्तिक है।" सोचते हुए ठीक अब्बू के से अंदाज़ में बिना कुछ बोले गुल सर झुकाए नाश्ता करती रही।

□

कहानी

खुद के पंजों पर

□ शशिप्रभा शास्त्री

अल-सवेरे सरला की आँख खुली तो सबसे पहले उसका ध्यान सत्या शर्मा के साथ घटित उस हादसे की ओर ही गया—ससुरालियों के द्वारा उसे जला कर मार डालने के विरोध में 'नारी कल्याण-संगठन' की ओर से जो जलूस निकाला जा रहा था—उनमें शामिल होने के लिये गिरिजादेवी का पर्चा आज की तारीख़ के लिये ही था—शान्तिलाल ने उसे तभी बहुत हल्के से धकाया, सरला इस संकेत से परिचित थी, छोटी वीना को सरका कर वह पलंग के दूसरे छोर पर खिसक गयी, "नहीं अब नहीं, सुबह के साढ़े चार बज चुके हैं।"

"तेरा चक्कर समझ में ही नहीं आता, कभी सुबह के साढ़े चार बजे हैं, कभी रात के ग्यारह ही हुये हैं।"—यह माजरा क्या है ? शान्तिलाल हौले से फुसफुसाया और सरला के पास सरक आया। सरला ने हाथ से धकाया, "नहीं, नहीं, नहीं।" शान्तिलाल आवेग में था, उसने सरला के गले को धर दबाया, उसकी चीख निकल गयी, वह उठ कर भागी और सीधी रसोई में पहुंच कर उकड़ू बैठ गयी, घुटनों के बल। भय से उसकी सांस ऊपर-नीचे हो रही थी, कलेजा बेतरह धड़वड़ा रहा था, पर अब वह आश्वस्त थी, कि शान्तिलाल कम-से-कम इस समय उठ कर नहीं आयेगा।

सर्दी की कोहरीली सुबह थी बेहद ठण्डी। बाहर शीतल हवा तेज़ी से बह रही थी, रजाई से हाथ निकालना मुश्किल था, ऐसी सर्दी में शान्तिलाल के लिए बिस्तर छोड़ कर उठना भारी पड़ता है। भारी सरला के लिये भी था, वह अभी कुछ देर और सोना चाहती थी, गयी रात हाड़-गोड़ तोड़ कर वह ग्यारह बजे सोई थी—छह घंटे की दफ्तर की ड्यूटी दफ्तर के पहले और बाद में घर के छह-छह प्राणियों—चार बच्चों और दो स्वयं पति-पत्नी के लिये नाश्ता-खाना तैयार करने उन्हें खिलाने-पिलाने, कपड़े धोने-सुखाने तह लगाने में उसकी चूल-चूल हिल जाती थी। ईश्वर ने छह घंटे की रात न बनायी होती, तो सरला तो एकदम पगला जाती।

शान्तिलाल के बहशीपन से सरला को दहशत होती है। हफ्ते में तीन-चार बार शान्तिलाल पर इसी तरह का भूत सवार होता है, पर पति का उस रूप में सहयोग कर पाना अब सरला की सामर्थ्य से बाहर की बात होती है। आख़िर वह इन्सान है, उसकी शक्ति की भी एक सीमा है और सबसे ज्यादा उसका भी मन है—एक नाकारा आदमी के साथ जुड़ने की तबियत उसकी अब नहीं उठती—एक नाकारा आदमी जिसका काम दिन के आठ-आठ घंटे दोस्त-अहबाबों के यहां पड़े रहना होता है। घर में जो सिर्फ नहाने-खाने और अपनी तलब मिटाने के लिये ही आया करता है, जिसे समय-असमय का कोई ध्यान नहीं रहता, जिसके पास न अपना कोई निज का कार्यक्रम है, न कोई विचार। सरला जानती थी, अगर वह वहीं पलंग पर रहती, तो वह उसे लस्त करके डाल देता। खुद तो बिजार की तरह दिन चढ़े तक रजाई में गुलका वह सोता रहेगा और उसे तो उठना ही होता है—घर के सब काम निबटा कर उसे दफ्तर पहुंचना है—उसका दफ्तर घर से चार मील की दूरी पर है। दफ्तर में आये नये चीफ़ समय की पाबन्दी पर बहुत ज़ोर देते हैं, उस पाबन्दी को निभाने के लिये वह ऑटोरिक्शा ले तो पूरे पांच रुपये ठुकते हैं, इसलिये वह पैदल ही लपझप भागती है, ख़रामा-ख़रामा, चलने से दफ्तर में देर हो जाती है, थकान में धीरे चलना व्यक्ति को और थका देता है। उसका एक-एक पैर मन-मन भर का हुआ रहता है, फिर भी घसीटते रहना उसकी नियति है।

दफ्तर से लोन लेकर उसने शान्तिलाल को मोटर साइकिल इसीलिये ख़रीदवाई थी, कि वह उसे उस पर दफ्तर छोड़ और ले आया करेगा, यों भी शान्तिलाल मोटर-साइकिल के लिये सरला को न जाने कब से तिकतिका रहा था, पर मोटरसाइकिल आने पर वह उसे दो-चार महीने ही दफ्तर ले गया था, उस समय नया-नया उत्साह था, वह निभा ले गया था, पर अपनी मनचाही दिशा में पत्नी का सहयोग न मिल पाने पर वह अपने कर्त्तव्य के प्रति उदासीन हो गया, पत्नी के प्रति उसने बेरुख़ी अख़्त्यार ली। झुंझलाहट और गुस्सा उसकी नाक पर रखा रहता। पत्नी को उसने टालना शुरू कर दिया और फिर पत्नी को लाने-ले जाने का क्रम उसने जड़ से ही काट दिया। "मैं तुम्हारा ड्राइवर नहीं हूं।" उसने कहा था "जो तुम्हें इधर से उधर ढोता फिरूँ। कमाई करना है तो खुद आने-जाने की आदत डालो!"

"जैसे कमाई मैं सिर्फ अपनी जान के लिये ही करती हूं ? छह प्राणियों के पेट भरने होते हैं मुझे।" पति के उस निरुद्विग्न किन्तु कटार सरीखे स्वर से उद्वेलित सरला ने भी तीखे स्वर में कहा था उस दिन।

"क्या कहा, तेरी कमाई पर पल रहे हैं हम ? तुझे तो शुक्रगुज़ार होना चाहिये हमारा, कि हमने तुझे इस लायक बनाया, कि आज तू चार पैसे कमाने लायक बन पायी है।" इस बार की आवाज़ में शाही अन्दाज़ बुलन्द था। "अब आंखें दिखाती है उल्लू की दुम !" इन शब्दों को जोड़ते हुए उसने आंखें तरेरी थीं। उस क्षण लगा था, जैसे वह तुरन्त उठेगा और पत्नी की देह के किसी हिस्से से भी एक लोथड़ा निकाल लेगा और चवड़-चवड़ चवा डालेगा।

सरला प्रायः सोचती, यह आदमी सब कुछ जानते-बुझते हुए भी क्यों नहीं समझता, कि गृहस्थी की गाड़ी सहयोग से चलती है और जो स्त्री अकेली ही इस गाड़ी को खै रही है, कम-से-कम उसके प्रति सहृदयता तो बरती जानी चाहिये। वह सोचती और डर उसे हरदम खाये रहता—उसकी शादी को पूरे पन्द्रह साल हो चुके हैं, पर उसे याद नहीं पड़ता, इन पन्द्रह वर्षों में उसने एक दिन भी सुख-चैन का देखा हो। हर दिन कहन-सुनन चिल्ल-पुकार, माराधाड़ी और खाऊंफाड़ापन—वह बराबर सहती चली आ रही है। शान्तिलाल

शुरू से मस्तमौला रहा है, मां का साया सिर पर न रहने से वह आरम्भ से उद्दण्ड निरंकुश किस्म का युवक बनता चला था, बाप अपने व्यवसाय में उलझे हुए प्रायः बाहर रहते थे, घर में होने पर भी बेटे को देखने की न उन्हें फुरसत थी, न ख्याल । बाप का जूता बेटे के पैर में फिट आने लगे, तो समझ लो, बेटे से कहने-सुनने के दिन गये—शान्तिलाल के पैर में पिता का जूता बहुत पहले से आने लगा था और उसूलन पिता ने बेटे की ओर से आंखें मूंद ली थीं। पढ़ाई के दौरान ही शान्तिलाल हर ऐब में माहिर और बालिग होता चला था। धाकड़ किस्म का आदमी होने के कारण दोस्तों में उसकी धाक थी, यों पूरा नगर उसके नाम और ताक़त से परिचित था, लोग उससे दहशत खाते थे ।

सरला सरल स्वभाव की एक छोटे कस्बे की शिष्ट-संजीदा किस्म की पढ़ी-लिखी युवती थी । शान्तिलाल से उसके माता-पिता का परिचय एक सांझे मित्र के माध्यम से हुआ था । दुनिया से जल्द रुखसती ले लेने के कारण शान्तिलाल के पिता कम-से-कम अपने इस दायित्व के प्रति सचेत रहने के बावजूद उसे भी पूरा नहीं कर पाये—सरला का भाग्य शान्तिलाल के साथ फिर भी बंध गया । अब घर में एक मात्र अपना ही आधिपत्य होने के कारण शान्तिलाल का स्वभाव दिन पर दिन तेज़ तर्रार होता चला था, पति की उडाऊ-फक्कड़-नाकारा वृत्ति के कारण सरला का नौकरी करना ज़रूरी था ।

शान्तिलाल ने यों तो कई कामों में हाथ डाला था, अगर वह मेहनती, लगन वाला होता तो कोई न कोई काम चमक ही सकता था, पर उपेक्षा और आलस्य के कारण उसका हर काम ठप्प होता चला था । इस हालत में उसका पत्नी पर गुर्राते रहना, अपनी हर योजना से उसे अनभिज्ञ रखते रहना और दोस्तों के साथ गुलछर्रे उड़ाते रहना—सरला की शिराओं को तोड़ता चल रहा था । उस दिशा में पति के साथ जुड़ पाना उसके लिये इस कारण दिनों दिन कठिन होता जा रहा था । उस नाजुक कर्म के लिये कम-से-कम कुछ क्षणों के लिये ही सही मन का उत्तेजनापूर्ण सम्मिलन जरूरी होता है—सरला के मन का संयोग शान्तिलाल के साथ किसी भी क्षण नहीं हो पाता था, उल्टे शान्तिलाल के प्रति उसकी विरक्ति घृणा में परिवर्तित होती चली जा रही थी, तभी वह काण्ड आज नये सिरे से फिर घटित हो गया था ।

आज गिरिजादेवी से मैं ज़रूर बात करूँगी । सरला ने उसी हालत में निर्णय किया, आखिर वे नारी-कल्याण-संगठन की संस्थापिका हैं—नारी-समस्याओं को सुलझाना और उनके अधिकारों की रक्षा करना यों भी उनका फर्ज़ बनता है । समाज में कितनी ही निरीह स्त्रियां हैं, जो परिवार में रहती हुई भी सास-ननद-पति किसी न किसी के अत्याचार तले पिस रही हैं, उनका रक्षक कोई नहीं है, वे चुपचाप घुट-घुट कर समाप्त हो जाती हैं—"नारी-कल्याण-संगठन" का निर्माण ऐसी महिलाओं के उद्धार के लिये ही किया गया है—सरला मथती हुई रसोई के कामों को निवटाने में लगी रही, चाय-दूध-नाश्ता तैयार करने, सब्ज़ी काटने और आटा माड़ने के बीच उसका मस्तिष्क चक्री-सा चलता रहा । घर की मान-मर्यादा की रक्षा की खातिर उसने आज तक किसी के सामने अपना मुंह नहीं खोला था, पर अब वह न मान-मर्यादा की चिन्ता करेगी, न समाज की ……।

सरला का मस्तिष्क जितनी तेज़ी से चल रहा था, उसके हाथ उतनी ही तेज़ी से घर के कामों में व्यस्त थे, मुख्यतः रसोई के । कमरे में झाड़ू देने के लिये वह अभी तक इसलिये नहीं घुसी थी, कि झाड़ू की फर्र-फर्र आवाज़ बच्चों के और उसके सोने में खलल डाल सकती थी । दिन काफी निकल आया था, बच्चे उठ कर स्कूल जाने की तैयारी में

लगे तो वह झाड़ू लेकर कमरे में घुसी। छोटी बेटी बीनू उसी कमरे के एक कोने में अपने बैग में किताबें भर रही थी बच्ची के सामने वह कोई उजड्ड हरकत नहीं करेगा, यही सोच कर वह उसके पलंग के नीचे से कूड़ा निकालने के लिये ज्यों ही घुसी, शान्तिलाल ने उठ कर उसकी पीठ पर एक बड़ा-धमूका जड़ दिया, शायद वह जगा पड़ा था।

"यह तहज़ीब है, कि एक आदमी सो रहा है और आप झाड़ू देने पर आमदा हैं। एक दिन झाड़ू नहीं लगेगी तो कोई कहर बरपा नहीं हो जायेगा।" शांतिलाल की रौद्र कड़कड़ाती आवाज़। सरला 'हाऽऽय' करके रह गयी थी, फिरने बौखलाने का उसके पास न शक्ति थी न समय।

झाड़ू पलंग के नीचे छोड़ वह रसोई में वापिस आ गयी। आवेश में लगाये उस जबरदस्त धमूके ने उसकी नसों के जाल को तितर-बितर कर डाला था उसे लगा, आज न वह दफ्तर जा पायेगी, न उस जुलूस में शामिल हो पायेगी—जिसके लिये गिरिजा देवी ने उसके पास पर्चा भेजा था। तब क्या करेगी वह ? श्यामलाल के लिये चाय की प्याली तैयार करते हुए वह यही सोचने लगी। क्यों न वह दफ्तर जाने के बजाये इसी समय गिरिजादेवी के घर जा पहुंचे—जुलूस तीसरे पहर निकलना है, उससे पहले ही वह अपनी बात कह कर और जुलूस में शामिल न हो पाने की अपनी असमर्थता को व्यक्त कर वापिस चली आयेगी। रास्ते में कहीं से भी वह दफ्तर में छुट्टी के लिये फोन कर देगी—गिरिजादेवी के यहां पहुंच पाने की व्यवस्था उसने मन ही मन पूरी तरह बैठा ली।

× × × × ×

गिरिजादेवी ने उसकी बात को ध्यान से सुना, विचारती हुई बोलीं, "देखो बेटी, जिससे पल्ला बंध जाता है, उससे छुटकारा पाना आसान नहीं हुआ करता……।"

"फिलहाल आई, मैं तलाक़ लेने की बात नहीं सोच रही, पर उससे अलग तो मैं रह ही सकती हूं।" गिरिजादेवी की पूरी बात उसने नहीं सुनी।

"उसके लिये तुम्हें अपना आगा-पीछा सोचना होगा। तुम्हारे दो-दो बेटियां हैं, तुम्हारे इस कृत्य का उनके भविष्य पर क्या असर पड़ेगा, सोचा तुमने ?" गिरिजादेवी ने सरला को समझाने का प्रयास किया था। "फिर अपने अकेले की आमदनी में तुम चार बच्चों का खर्च और उठा सकोगी ? उनका भरण-पोषण, उनकी शिक्षा उनके और गृहस्थी के दसियों खर्चे……?"

"उस बारे में मैंने सोच लिया है, गिरिजा आई ! दफ्तर के अलावा कुछ ट्यूशनें करके मैं अपना काम चला लूंगी, पर उसके बहशीपन को बर्दाश्त कर पाना अब मेरे बस की बात नहीं रही है। जिस वक्त उस पर जुनून सवार होता है, उस समय वह मरने-मारने पर उतारू हो जाता है, उस सबका भी तो बच्चों पर गलत असर पड़ रहा है।"

"बहशीपन उस पर क्यों सवार होता है ? तुमने सोचा कभी ?"

"सीधी-सी बात है आई, पत्नी पर रौब ग़ालिब करने की उसकी आदत है। पत्नी की आमदनी से ही गृहस्थी चल रही है, इसे वह स्वीकार न भी करे, पर यह विचार अप्रत्यक्ष रूप से उसमें हीनभावना तो भरता ही रहता है। खुद उद्यम करने की उसमें आदत है नहीं, फिर नाकारा पड़े आदमी की वासनात्मक वृत्तियां भी खूब भड़कती हैं, पत्नी से कहीं और पार नहीं बसाती, तो इसी आधार को लेकर कि वह उस काम में उसे सहयोग नहीं दे रही है, वह उत्तेजित हो उठता है, पर मैंने आपको बताया, एक नाकारा आदमी के साथ, जो सिर्फ अपना रौब जमाना चाहे, उसके साथ कम-से-कम उस कर्म में जुड़

पाना अब मेरे लिये मुश्किल है। इतनी स्पष्टवादिनी होने के लिये आप मुझे बेशर्म-धृष्ट कुछ भी कह सकती हैं, पर मैं मजबूर हूं। आपके सामने पूरी बातें खोल कर इसीलिये रखी हैं, कि आप मेरी मूल समस्या पर विचार करें, इसका हल खोजें, कौन स्त्री अपना घर तोड़ना चाहती है पर······। पर मुक्ति का मार्ग खोजना ज़रूरी है, मैं आजकल कितनी संतप्त हूं, आप जैसी संवेदनशीला महिला इसे समझ सकती हैं। आप मेरे घर आयें, उससे बात करें, तब वह समझेगा, कि मेरी पीठ पर भी कोई है। मां-बाप के चले जाने के बाद मैं निपट अकेली नहीं रह गयी हूं।"

"तुम्हारी व्यथा मैं समझती हूं बेटी, पर तुम यह भी तो सोचो, कि जब तुमने कारण खोज ही लिया है, तो उसका उपाय भी तुम्हीं कर सकती हो। अपने पति को हीनभावना से मुक्ति तुम्हें ही दिलानी होगी उसका आत्मविश्वास टूट गया है, तुम उसमें आत्मविश्वास भरो······।"

"पर कैसे? मैं उस नारकीय जीवन को अब नहीं जी सकती आई, मैंने हर सम्भव कोशिश करके देख लिया है, कुछ उसे खुद भी तो सोचना चाहिये, मुझ में जीने की अब कोई चाह नहीं बची है, पर अपने बच्चों के लिये मैं अब भी ज़िन्दा रहना चाहती हूं, आप मुझे सलाह दीजिये, मेरी सहायता कीजिये······।" कहते हुए सरला लगभग रिरिया उठी," आप उससे मिल उसे भी तो राह सुझा सकती हैं, उसके मित्रों और समाज से उसका सामाजिक बहिष्कार करवा सकती हैं। सोचिये तो सही, आप महिला के मर जाने पर उसके घर पहुंचती हैं, जुलूस निकालती हैं, नारे लगाती हैं, उससे पहले पहुंचिये न !"

"तुम ठीक कह रही हो बेटी, पर हमें तो सोचना पड़ता है, किसी घर की थुक्का-फ़ज़ीहत न हो, किसी भले घर की बदनामी करना हमारी नीयत भी तो नहीं हुआ करती, पर तुम्हारी सब बातें सुन कर मुझे लगता है, तुम्हारे यहां हम महिलाओं को आना ही पड़ेगा। सरला के क्लान्त चेहरे पर एक क्षण के लिये रंगत आयी और फिर शीघ्र ही बुझ भी गयी, गिरिजादेवी कह रही थीं—

"कुछ दिनों के लिये हमारे इस संगठन की महिलाएं आजकल दूसरी जगह व्यस्त हैं; मैं खुद भागदौड़ में फंसी हूं, आज सुमित्रा शर्मा के बारे में जुलूस निकालना है, तुम जानती ही हो, कल 'पशुसंरक्षिणी सभा' की मीटिंग है, अगले दिनों मुझे "शिशु-कल्याण-प्रतियोगिताओं" की अध्यक्षता करनी है, फिर भी मैं आऊंगी। तुम अब घर जाओ और हां आज के जुलूस में ज़रूर आना !"

"मैं नहीं आ पाऊंगी आई, "पीठ के इस गूमड़ को देखिये," मैं तो समझी थी, इसने घूसा ही मारा था, पर अब लग रहा है, उसके हाथ में कोई चीज़ भी रही होगी।" सरला ने पीठ उघाड़ कर दिखलायी।

"तुम्हारा पति तो बहुत आततायी है, बेटी, मैं उसे देखूंगी। वैसे तुम्हें भी हमारे काम में सहयोग करना है, 'नारी-कल्याण-संगठन' का वार्षिक शुल्क तो तुमने दे दिया होगा?"

"अभी तो नहीं।" और न जाने किस मोह में सरला ने पचास रुपये का नोट निकाल कर गिरिजादेवी के हाथ में थमा दिया। चलते हुये उसकी अनुनय भरी दृष्टि गिरिजादेवी पर थी, "तो मैं आशा करूं कि नारी-कल्याण-संगठन कुछ मेरे लिये भी सोचेगा, करेगा? मुझे इस राक्षसी स्थिति से त्राण दिलाइये आई !"

"बेटी, तुम जाओ, मैं पूरी कोशिश करूंगी, पर मैंने अपने फिलहाल के कार्यक्रम तुम्हें बताये।"

"उसी में से कुछ समय निकालिये आई नहीं तो……!" अपना आधा कटा-सा वाक्य सरला ने बीच में ही छोड़ दिया। वह कहने जा रही थी, "नहीं तो आपके इन व्यस्त दिखावे वाले कार्यक्रमों का क्या लाभ, जब आप किसी मुसीबतज़दा औरत की मुसीबत को समझ ही नहीं पा रही हैं।"

जैसे सरला देवी के मन की बातें गिरिजादेवी ने ज्यों की त्यों पढ़ ली हों, वे बोलीं "बेटी, इस तरह के जुलूसों-आन्दोलनों और नारेबाज़ियों का भी महत्त्व होता है, इससे लोक-चेतना को बल मिलता है।"

"पर सिर्फ़ यही प्रदर्शन-भाषण और नारेबाज़ी ही "नारी-कल्याण संगठन" के मुद्दे क्यों होने चाहिये ? न जाने किस झौंक में सरला कह ही बैठी, शायद इस आस में कि उसकी चिरौरी, तर्क-वितर्क पर ही गिरिजादेवी कुछ पिघले। गिरिजादेवी पिघली भी—बहुत रहस्यमय संजीदा स्वर में उन्होंने फुसफुसाया, "तुम्हारा पति शांतिलाल बेटी मेरे ननदोई जीवनराम संगल के दामाद केशवप्रसाद का दूर के रिश्ते का भतीजा लगता है—तुम शायद यह नहीं जानतीं। ननदोई जी की तरफ से हमारे आन्दोलन को काफ़ी आर्थिक मदद मिलती है, उनसे भी बात करूंगी सरला का उत्साह और स्वर ठंडा हो गया, उन ननदोई संगलजी के कारनामों से वह परिचित थी, उसके अन्तर में बैठे किसी ने गर्दन डाल दी, संगला साहब का दबदबा किसी को भी दहला सकता था।

"किसी भी संस्था के लिये किसी के दबाव में रहना काफ़ी खतरनाक हुआ करता है आई !" सरला फिर फूट पड़ी। गिरिजादेवी ने गम्भीर दृष्टि से सरला की ओर देखा, एक अर्थपूर्ण नज़र जो कह रही थी, कोई भी कदम उठाने-से पहले हमें सोचना तो पड़ेगा ही। उस दृष्टि से जैसे सरला की वाचालता को माफी दे दी हो, यह उसके लिये चले जाने का संकेत भी था।

पूरे रास्ते सरला क्या-क्या सोचती चली। घर पहुंचने पर शान्तिलाल को देख कर वह शंकित हुई, बच्चे अभी स्कूल से नहीं लौटे थे, घर में इसलिये वे दोनों ही थे। एक विचित्र तरह के डर ने सरला को ऊपर से नीचे तक सिहरा दिया। सहम जाने का कारण आज उसका गिरिजादेवी के यहां जाना भी था—अगर उसे मालूम हो जाये, कि मैं उसी से मुक्ति पाने के उपाय खोजती फिर रही हूं, तो मुझे तो वह खा ही लेगा। बिना कुछ बोले वह बाहर लॉन में पड़े मूढ़े पर बैठ गयी, सर्दी की धूप बहुत आरामदेय लग रही थी, मूढ़े पर बैठ कर शॉल को उसने अपने मुंह और पीठ पर डाल लिया, जो उससे निरपेक्षता का भी सूचक था और इसका भी, कि वह थकी हुई है—कुछ देर आराम करना चाहती है उससे कुछ न कहा जाये।

शांतिलाल इस समय पूरी तरह आराम लेकर नहाया-धोया और पत्नी का बनाया ताज़ा स्वादु खाना खाकर स्फूर्तिवान बना खड़ा था, अचानक उसे आया देख वह उसके पास आया और उसका ढका हुआ सिर पकड़ कर डुगडुगी की तरह हिलाते हुए बोला, "क्या बैठी है गुड़िया-सी दबी-ढकी, आज दफ़्तर से मक्कारी कर गयी। तेरी शक्ल को नजर लग जायेगी क्या ? बड़ा गुमान है तुझे अपनी इस शक्ल पर, मैं इसे तेजाब डाल कर झुलसा भी सकता हूं, तू समझती क्या है…।" और पत्नी को बेतरह चौंकाते हुए उसे अल्टी-मेटम-सा देता हुआ वह बाहर चला गया।

सरला थरथरा उठी, उसकी ओर से कुछ सुनने की उम्मीद उसे थी ज़रूर पर इस

तरह की धमकी उसे कुरूप बना डालने की बात—उसे लगा, उसके लिये कुछ भी कर
डालना नामुमकिन नहीं है।

दोनों के मध्य संवाद की स्थिति तो लगभग समाप्त हो ही चुकी थी, पर अब तो
वह अकेली होने की स्थिति में उसके साथ घर में रहने में भी डरने लगी। शुरू-शुरू में
उसने शान्तिलाल को राह पर लाने के लिये अनगिनत उपाय किये थे, साम-दाम दोनों
प्रकार के, पर अपने सब अस्त्र व्यर्थ हो जाने पर अब उसके पास मात्र एक ही हथियार
चुप्पी ही रह गया था, पर उस तरह का मौन भी शांतिलाल को खलता और वह रात-
दिन कुछ न कुछ योजनाएं बनाता रहता— योजनाएं पत्नी को त्रास देने की, उसे डराये-
धमकाये रखने की।

× × × × ×

सरला को गिरिजादेवी का फिर भी इन्तज़ार था। शायद वे किसी दिन आयें,
उसकी स्थिति का अध्ययन करें और उसे राह सुझायें। पर गिरिजादेवी का आना नहीं हो
सका। अखबारों में रखे छोटे-छोटे पर्चों के ज़रिये ही वह उनके और उनके संगठन की गति-
विधियों के बारे में समाचार पाती रही। उसका अपना मामला संगीन बनता चला जा रहा
था। पति की खौफनाक निगाहें वह अपने ऊपर बराबर महसूस करती रहती थी। पत्नी
कहां जाती है, क्या करती है किससे क्या कहती है, उसके विरुद्ध वह कोई उपद्रव खड़ा
करने तो नहीं जा रही ? इस तरह की खोजबीन रखते रहने के अलावा शान्तिलाल के
पास कोई दूसरा काम मानो रह ही नहीं गया था। सरला के दफ़्तर से लौटने का समय
छह बजे शाम था और उस समय उसका घर पहुंच जाना ज़रूरी होता था। बच्चे उस
समय घर में ही होते और तब वह आश्वस्त हुई रहती। लौट कर वह घर के काम करती
खाना बनाती और बच्चों को पढ़ाने-लिखाने में लगी रहती। रात का खाना वह बच्चों के
साथ ही खा लेती, शान्तिलाल सबसे पहले या सबसे बाद में खाना खुद परोस लेता और
खाकर बाहर निकल जाता।

दोनों पति-पत्नी के मध्य अब संवादात्मक और शारीरिक दोनों प्रकार के सम्बन्धों
की इतिश्री हो चुकी थी। यों बह रहा था समय-प्रवाह और इस घर की जीवनचर्या—इस
नीरस ज़िन्दगी से भी उसने समायोजन किसी ढब बैठा ही लिया था, पर तभी उस दिन
वह अप्रत्याशित घट ही गया—वे गर्मी के उमस भरे दिन थे, अन्धकार बहुत जल्दी-जल्दी
घिरता चला आ रहा था, दोनों लड़के बाहर खेलने गये हुये थे, लड़कियां लॉन में शायद
खेल रही थीं या बतिया रही थीं—दफ़्तर से लौट कर सरला रसोईघर में सब्ज़ी चढ़ा कर
नहाने के लिये गुसलखाने में घुसी ही थी, कि थोड़ी देर बाद ही बाहर से एक विचित्र गन्ध
और धुएं ने घेर लिया, दम घुटने लगा तो उसने दरवाज़ा खोलने की कोशिश की, पर
बाहर से चटखनी बन्द थी। शान्तिलाल ने फोम का एक बड़ा टुकड़ा जलाकर दरवाज़े के
पास रख दिया था, जिसने तेज़ी से आग भीतर तक पकड़ ली थी······।

× × × × ×

अगले दिन बाज़ार में 'नारी-कल्याण-संगठन' की ओर से महिलाओं का एक बड़ा
जुलूस निकला था—सरला की मृत्यु और महिलाओं की सुरक्षा और उनके अधिकारों की
मांग को लेकर। सरला नारों की आवाज़ सुन सकती थी, क्योंकि गुसलखाने की खिड़की के
सरियों को, जिन्हें किसी दुर्घटना की आशंका से, उसने काफी पहले ही ढीला कर रखा
था, उन्हें हटा कर अंधेरे में ही वह लदर-फदर भागती हुई कल रात से ही उस पुलिया के
नीचे ही कोने में सिमटी बैठी थी, जिस पर वह जुलूस निकला जा रहा था।

आज तक वह गिरिजादेवी पर ही निर्भर होकर चलती तो······? उसका मस्तिष्क
ताबड़तोड़ कितना कुछ भयंकर सोचता चला जा रहा था, अपनी लड़ाई खुद से लड़ने के
बारे में भी······। □

कहानी

संताप

□ सूर्यबाला

मुंह लटकाये आती औरतों का एक और हुजूम खुसर-फुसुर करता बरामदे में दाखिल हो रहा है, लेकिन उसका चेहरा वैसा का वैसा पत्थर बना रहा, उसी तरह बुत की तरह दीवाल से टिकी सामने दूसरी दीवाल की तरफ टकटकी बांधे बैठी रही, न चीख, न पुकार, न चेहरे पर और किसी आवेग के चिन्ह ही । हर आने जाने वाले की आहट और मौजूदगी से पूरी तरह अडोल, निस्पंद ।

औरतें परेशान हैं, ठिठकी हुई सी, अब ऐसे में कोई मातमपुर्सी करे भी तो कैसे ? कोई आह, कोई सिसकी, निकले तभी तो उस पर अफसोस और सियापे का लेप चढ़ाया जाए । लेकिन यहां तो किसी को मातम मनाने तक की तमीज़ नहीं ।

तभी आहट पाकर, रसोई से जल्दी-जल्दी हाथ पोंछती हुई सास बाहर आई है और औरतों को देखते ही एक गगनभेदी हिचकी काढ़ दी है । बगल के कमरे में प्याले की चाय जल्दी-जल्दी गुटक कर बड़ी, छोटी ननदें भी आकर शामिल हो गई हैं, हिचकियों में दम पड़ा है और एक दूसरे के सहयोग से कार्रवाई चल पड़ी है, पूरे कायदे और रवानगी के साथ ।

''अरे मैं तो सुन कर जैसे सन्नाका खा गई, लगे कि जैसे बदन में जान ही नहीं । मिन्टू के पापा परेशान हो पानी लेकर दौड़े, वे तो मना किये जायें कि ब्लडप्रेशर की मरीज हो, तुम्हारा दिल कमज़ोर है, कैसे जाओगी, लेकिन मैं बोली—''न—बिगर जाये, मेरे दिल को चैन कहां······''

पहली की ज़बरदस्त शुरुआत देखकर दूसरी ने टोका—

''अरे आपका क्या, सारे मुहल्ले का यही हाल है । मुझ से तो कल पूरे दिन एक बूंद पानी हलक के नीचे न उतारा गया—अन्न की कौन कहे···''

तीसरी कुढ़ी—''हुंह —आई झुंड में, बखानने लगीं, अपनी अपनी···''

'अजी सारा मुहल्ला कि पूरा शहर का शहर जिसे देखो बस एक ही बात—तेरह नम्बर वाले के दोनों बच्चे--अरे सुनने वालों की छाती फटी जाती है फिर हम तो अगल बगल के ठहरे···''

और सब अपने अपने बूते पर जुट गईं।

''लेकिन आखिर हुआ कैसे ? दो-दो तोतले बच्चे सरक गए पानी में और···''

''बस होनी थी और क्या ? नहीं, तो इतने छोटे बच्चों को लेकर पानी के पास जाने की ज़रूरत ही क्या थी भला ?''

''अरे जाती कैसे न ? मौत जो बुला रही थी बच्चों को···सुना, बच्चों ने खुद ही ज़िद की थी झरने के पास जाने की।—''

''एक बात कहूं ? बच्चे तो बच्चे – वे तो ज़िद करेंगे ही, लेकिन अब बहू को तो समझदारी से काम लेना चाहिए था थोड़ा—हमारे बच्चे ही सब क्या कम ज़िद करते हैं लेकिन मजाल है जो कभी बच्चों को लेकर तालाब पोखर के पास तक फटकी होऊं···और अब तो वे सब भी इतना डरते हैं कि बित्ते भर भी पानी होगा तो पांव नहीं देंगे···''

सास ने कनखी से कोने में टिकी बहू की ओर देखकर इशारे से स्वीकृति जताई और बड़ी ननद ने बताने वाली की दूरदर्शिता को पूरी सहमति प्रदान की।

तभी दूसरी ने पहली पड़ोसिन को मिलते ये फतवे समेटने की गरज़ से कहा—''अरे जब मौत आती है तो सारी सार संभाल और अक्लमंदी धरी रह जाती है···नहीं तो भला वह बच्ची पानी के पास जाने देने लायक थी···'

तीसरी ने सुधारा—''सुना, वह पानी के पास थी नहीं, छोटा भाई फिसला तो उसे बचाने के लिए छपाक से पानी में कूद गई।'

अचानक कलेजा चीरती हुई चीख निकल गई थी उसकी, औरतें घबड़ा कर दौड़ पड़ीं, दीवार से टिकी-टिकी, चीख कर एक तरफ लुढ़क गई थी वह।

उत्तेजना की एक ज़बरदस्त लहर चारों ओर हलकोरने लगी।

''अरे पानी लाओ पानी···''

''नहीं पहले कोई लकड़ी, दांत लग गए हैं।''

''दांतों के बीच लकड़ी फंसा कर तब पानी का छींटा दो।''

'कुछ भी कहो,—आखिर मां है न।

''कलेजे के टुकड़े दो-दो बच्चे···''

''अरे जरा सी चोट खरोंच लगती है तो अपने लोगों का कलेजा चिर जाता है और यहां तो आंखों के सामने देखते देखते···''

छींटों से तर बतर चेहरे ने धीमे आंखें खोलीं और दृष्टि क्षत-विक्षत पक्षी-सी तड़फड़ाने लगी।

''अच्छा आसपास कोई बचाने वाला नहीं था ?''

और वह वापस चीख मार कर छटपटाने लगती है।

ननद जवाब देती है—''अरे वहां कौन था उस उजाड़ खंड में···यही सोच सोच कर शायद और पछताती हैं ये···वह तो कहो···हेमंत भइया बच गए···''

''बच गए ?, क्या वे भी कूदे थे क्या ?···''

''अरे नहीं···उतनी तेज लहरों में पागल ये क्या जो कूदते।''

"हां हां और क्या''भगवान का लाख लाख शुक्र बड़ी समझदारी का काम उन्होंने किया कि नहीं कूदे।"

"ऊपर से बता रहे थे कि ये मामी, पागल बदहवास सी चीखे जा रही थी।"

"मेरे बच्चों को ले आओ''अरे, मेरे बच्चों को वापस लाओ—यहीं इसी गढ़े में होंगे जाओ न''बताओ, कहीं चले जाते तो''"

"अरे बिलकुल''बच्चों की तो खैर मौत आनी थी, आई और फिर कितना भी कहो बच्चे तो बच्चे ही''लेकिन अपना मर्द पूरे हाथ पांव से सलामत खड़ा है तुम्हारे सामने, इसी का शुकर करो''"

"और क्या''औरतें मिल जुलकर उसे समझाने लगीं''"

"भगवान को धन्यवाद दो बहू कि तुम्हारा सुहाग उजड़ने से रह गया''"

"हां, समझ लो, उसी एक से सारी दुनिया है ?"

तीसरी ने थोड़ा हिचकते हुए जोड़ा—'फिर' बच्चे ईश्वर ने चाहा तो और एकाध हो ही सकते हैं—ऐसी कौन सी उमर बीत गई है अभी''"

इस पर चौथी ने धीरे से शंका की—"उमर की बात नहीं, लेकिन आजकल तो सभी लोग दो बच्चों के बाद ही आपरेशन''" फिर और धीमे से''"अब पता नहीं इन लोगों ने''' और इशारा कर चुप हो ली।

एक दूसरी, अपेक्षाकृत ज्यादा मॉडर्न, बोली—"अरे वो तो मुझसे पूछो, मैं बताऊं ''आजकल औपरेशन वाले केस भी वापस फिट कर दिये जाते हैं। यहां तो आजकल अस्पताल वाले डा० बत्तर्ा का हाथ बड़े जस वाला है।"

एकाएक जैसे कोई बड़ी पेचीदी बात सुलझ गई हो, मिनटों में, सारा दुःख मेट दिया, जैसे फिल्मों में दुःख के अतिरेक के बाद ही फौरन हल्का-फुल्का सीन जोड़ दिया जाता है, माहौल हल्का हो आया तो बात भी ज्यादा समझदारी वाली की जाने लगीं।

वैसे एक बात कहूं –"बच्चे कौन किसके जान से प्यारे नहीं होते—लेकिन लड़की तो समझ लो गई तो अपनी तो अपनी, मां-बाप की ज़िन्दगी का भी उद्धार कर गई, वरना आजकल के जमाने में पूरे हाथ पांव वाली लड़कियों का ठौर-ठिकाना नहीं लग पाता फिर यह तो बेचारी एक हाथ की अपाहिज''।"

"लेकिन हिम्मत देखो''न चीखी न चिल्लाई—बस कूद गई छपाक से, नन्हें से भाई को बचाने''हमारे ये तो कह रहे थे, उसे जरूर संजय-गीता पुरस्कार के लिए''"

अब के वह हाथ फैला कर दर्द से बिलबिलाते हुए चीख पड़ी थी—जैसे बच्ची को भर हाथों समेट लेना चाहती हो—"मितू बेटे''"और वावली-सी अपने अशक्त हाथों से कलेजा भींच हिलक हिलक कर रो पड़ी।

औरतें फिर चौंक कर रुक गईं, कइयों की आंखों से आंसू बह चले।

"न-न-ऐसे जी छोटा नहीं करते बहू''क्या करोगी''अब कितना भी बिलखो'' बच्चे कहां वापस मिलने वाले हैं।"

"अरे छोटा वाला तो दरवाज़ा खुला नहीं कि भाग कर पहुंच जाता था मेरे घर में—आंटी बिच्युट (बिस्कुट) परसों बिस्कुट नहीं था तो परांठे का टुकड़ा रखा तब कहीं मितू के साथ वापस आया''"

"साये की तरह डोलती थी''छोटे भाई के पीछे-पीछे''।"

'वही तो··· अन्त तक साथ कहां छोड़ा भाई का··· कोई दूसरी होतो तो रोती घिघियाती और यह अपाहिज होने पर भी···।"

फिर से एकदम घोंटती चीख उसके गले में अटक कर रह गई, उसका जी चाहा है कि वह अपनी बेटी को अपाहिज कहने वालों का मुँह जकड़ ले, लेकिन कुछ न कर पाकर सिर्फ दर्द के एक उमड़ते आ रहे सैलाब में डूबती चली आती है।

और उस नीम बेहोशी में जाने कब पतले रेशम की डोरी-सी बांहें आकर उससे लिपट गई हैं—

"मम्मी ! आज तीन-तीन पेपर्स की कापियां मिली हैं···"

"सच्च ?" वह तवे पर पड़ी रोटी छोड़, बांहों में समेट लेती।

"कैसे नंबर मिले ?"

तीनों में फर्स्ट—"शरमाई शरमाई बिखर पड़ती पंखुरियों-सी हंसी।

"चल झूठी···" यह जुमला जैसे उस सच का डिठौना होता—अच्छा, वर्षा ऋतु वाला लेख कैसे शुरू किया था···"

"जैसे तुमने बताया था।" और मगन मन रेशमी डोरियों फिर से लिपट जातीं। अपनी सारी की सारी छोटी बड़ी ढेर की ढेर उपलब्धियां लाकर मां की झोली में डाल देने वाली।

"ग्रामर में क्या-क्या आया था···"

"जो जो तुमने बताया था···"

"देखूं—अरे ये क्रिया-विशेषण कहां करवाया था मैंने ?

"तो क्या बाकी तो तुम्हारे बताये···"

"आज रेसीटेशन में कविता कैसे बोली ?"

"जैसे तुमने प्रैक्टिस करायी थी···"

"आज की डिबेट में भूली तो नहीं ?"

"न, बिलकुल नहीं, तुझे बताया था न कि एक लाइन बोलती जाओ दूसरी सोचती जाओ···"

"भोली आंखों में अपार निष्ठा की जोत जलती रहती, वह जोत उसके अंधेरे को पूरी तरह उजाले से लहलहा देती···"

"मम्मीऽऽ—जानती हो आज मीरा मिस ने सारी दो हाथ वाली लड़कियों को छोड़कर मुझे तिरंगे की सलामी के लिए चीफ गेस्ट को लाने के लिये कहा है···"

अंदर कुछ रूंधा लेकिन वह झट उस पर आड़ करती बेटी से ज्यादा अपने आप को ही बहलाती हुई बोलती···

"तो क्या हुआ, एक हाथ और दो हाथ से क्या होता है···"

"हां और क्या···सिर्फ रस्सी ही तो नहीं कूद सकते और डांस नहीं कर सकते और कबड्डी नहीं खेल सकते और बॉल नहीं कैच कर सकते और···", लिस्ट बढ़ती देख, मां की उदासी का ख्याल आते ही···"बस थोड़ी सी ही चीजें तो न मम्मी !—बाकी पढ़ाई,

लिखाई, पेंटिंग, डिबेट कितनी सारी चीजें कर सकते हैं, एक हाथ वाले न,—मम्मी तुम मुझे बड़ी तो होने दो तुम देखना···

उसने देखा तो सिर्फ रूई के फाहे-सी लहरों में डोलती असहाय नन्हीं हथेलियां और लच्छे लच्छे बाल—वही दर्द से बिलबिलाती हुई चीख फिर से भिंचे होठों में दफन हो गई है···मेरी बच्ची को बड़ी तो होने देते तो देखते···

किससे कह रही है वह···क्या कर सकता था कोई ? कहां था ही कोई वहाँ ? नहीं, थे तो, हेमंत···लेकिन लोग कितनी बार तो समझ चुके हैं कि नहीं बचाया जा सकता था उसे···

फिर भी उसका मन तड़फड़ा तड़फड़ा कर हर समय अपने आपसे पूछता रहता है—"लेकिन कोशिश तो की जा सकती थी···"

कोशिश क्यों नहीं हुई

नहीं, यह बात वह जुबान पर नहीं ला सकती अब !

हेमंत ने उसके बिना पूछे ही अपनी कैफियत बार-बार क्यों दी है कि···

"उन लहरों के तेज़ बहाव में (जिसमें वह छोटी बच्ची बेखौफ कूद गई थी) उन बच्चों को तो क्या बचा पाता···उल्टे तुम्हारी मांग का सिंदूर पुँछ जाता ?"

कभी कहते हैं—"मैं चाहता तो कूद सकता था लेकिन तुम्हारा ख्याल आ गया।"

हेमंत यह क्यों नहीं कहते कि खुद अपनी जान से हाथ धो बैठते। उसके मांग के सिंदूर की आड़ में अपनी जान की कैफियत क्यों देख दे रहे हैं !"

हेमंत का कहना है, वह उसके लिये नहीं कूदे, वह चाहती है कि हेमंत कहें कि वे अपने लिये नहीं कूदे, कहें कि "मुझे अपनी जान प्यारी थी, इसलिये नहीं कूदे। ···यह एक सच है, दुनिया के ज्यादातर लोग कायर होते हैं मेरी तरह···नहीं कूद सकते' ···हां, सिर्फ बहुत बहादुर लोग ही कूद सकते हैं दूसरों की जान की खातिर···उसकी बहादुर बेटी की तरह···"

अच्छा ! यह छूट आज तक दुनिया की किसी पत्नी को क्यों नहीं मिली कि वह अपने पति की इस किस्म की नामर्दगी को उजागर कर सके।

खुद अपने आप से जूझती हुई वह पूछती है और फिर वापस समझाते हुए कहती है—"अच्छा, अगर मान लो हेमंत कूद ही जाते तो ?"

"तो मुझे जीवन भर यह पछतावा न रहता कि मैं एक भीरू की पत्नी हूं···"

"भीरू ?" जरा जाओ जाकर आफिस में देखो··हेमंत के नाम से सारे सहकर्मी थरथर कांपते हैं—नहीं कन्नी काटते हैं, हां, उसे मालूम है, हेमंत खुद हर रोज़ अपनी एक नयी उपलब्धि का तगमा लटकाये घर लौटते हैं।".

'आज तो सक्सेना के बच्चे को वह लथाड़ दिलवाई बॉस से कि बच्चू जिन्दगी भर याद करेंगे···हुंह, चले थे मुझे ही डिसिप्लिन सिखाने···।"

'ये देखो-बड़े बाबू पूरे चार साल फाइलें रगड़ते रहे और प्रमोशन आज उनकी जगह मुझे मिल गया···इसे कहते हैं अक्लमंदी और दूरंदाजी

"या स्वार्थ का अतिरेक—" लेकिन नहीं कह पाई थी। सिर्फ मुस्कराकर हामी भरी थी।

या फिर···

'आज 'मैडम' आई थी ऑफिस सिर्फ मेरी नमस्ते का जवाब दिया, कह रही थीं, खरबूजे बेहद मीठे निकले, तुम्हें क्वालिटी की वाकई पहचान है, लखनऊ छोड़ने के बाद पहली बार इतने अच्छे खरबूजे मिले खाने को···अच्छा किया न जो उन्हें दे आया··· तुम्हारी चलती तो तुम अपनी मां के भेजे सारे खरबूजे अपने बच्चों को ही खिला डालतीं कि मां ने बच्चों के लिये भेजे हैं···।''

रोकते न रोकते वह हंस पड़ी थी, उनकी बचकानी खुशी देखकर और समझाने की गरज से बोली थी—

''तुम भी इस तरह की एकदम छोटी-छोटी चीज़ों को उपलब्धियां मान लेते हो...''

''अच्छा···तो बड़ी उपलब्धियां क्या होती हैं, तुम बताओगी मुझे ? ···हां तुम्हारे जैसी उपलब्धियां···जैसे कि यह यानी विवाह के सात साल बाद तोहफे के तौर पर यह अपाहिज लूली बच्ची···''

अंगारे बने वे शब्द, आज तक सुलग रहे हैं कानों में । लेकिन आश्चर्य ! हेमंत सब कुछ भूल गये, वापस अपनी उपलब्धियों में मग्न, साहब के घर बाथरूम ठीक कराते हुए । साहब के घर होने वाले डिनर का इंतजाम कराते हुए । इम्तहान के दिनों में साहब के बच्चों की मैथ ठीक कराते हुए । मैडम के लिए सिर दर्द की गोलियां लाते हुए और उन्हीं हाथों से एक दिन वे क्लर्की से अफसरी में तबदील हो जाने का अपना आर्डर भी ले आये थे— उसे हाथों में झूम कर तानाशाह की तरह बोले थे—''इसे कहते हैं जीवट और लगन, आज तक किसी को इस आफिस में क्लर्की से अफसरी का दर्जा नहीं दिया गया ।''

कहना चाहती थी, क्योंकि वे लोग 'मैडम' के लिये दर्द की गोली लाने से पहले बुखार में तपती अपनी पत्नी के माथे पर गीली पट्टी रखना ज्यादा पसंद करते हैं । वे लोग साहब के बच्चों से ज्यादा अपने बच्चों की तोतली ठुनक और शरारतों पर जान देते हैं···साहब की वेडिंग एनिवर्सरी की तैयारी में अपने बच्चों की साल गिरह नहीं भूल जाया करते···वे लोग साहब के बंगले पर कभी-कभार लाचारी में खानापुरी करते हैं, तुम अपने घर पर । यह साहब के बंगले की टहल अब तुम्हारी महत्वाकांक्षा की धुरी बन चुकी है ।

फिर भी सब कुछ ठीक-ठाक चला जा रहा था क्योंकि उसके पास बेशुमार दौलत थी, अपनी बेटी की उपलब्धियों की । उल्लास से उमड़ती अपनी खुनखुनाती हंसी की रंगोली वह बिखेरती रहती, उसके चारों तरफ । बेटा तो खैर छोटा था पर उन अपाहिज हाथों ने कितना मज़बूत सहारा दिया था उसे जीने के लिए ।

वह आश्चर्य से फटी-फटी आंखों से देखती, हेमंत कितने बहु आयामी ढंग से लोगों की हमदर्दी और दया बटोर रहे हैं । पूरी तरह भेंट कर लगातार बिसूरते रहते हैं—

''मैं कहां जा रहा था उस दिन···मुझे तो साहब ने एक ज़रूरी काम से बुलाया था मेरे भाई···मुझी पर उनका भरोसा है···लेकिन वाइफ ने भी ज़िद की न ! बच्चों को तो मैं बहला लेता···वहीं, इन लोगों की बात मानने की गलती की न···फूल से बच्चों से हाथ धोये···हां भाई ठीक कहते हो···लड़की सचमुच तकदीर वाली थी···अपने साथ हमें भी उबार गई, उसके हक में अच्छा ही रहा···अभी तो खैर छोटी थी···लेकिन बड़ी होने पर जाने कितनी ठोकरें खानी पड़तीं···वाइफ का बुरा हाल है, समझा तो रहा हूं कि

धीरज से काम लो...एकाध डाक्टरों से बात करता हूं ''तकदीर ने साथ दिया तो बच्चे और हो जाएंगे, और ईश्वर ने चाहा तो इस बार अपाहिज़ नहीं पूरे स्वस्थ ···''

कि वह दुबारा चीख कर बेहोश हो जाती है ।

तभी दरवाजे पर कार का हार्न सुनाई पड़ता है, हेमंत लपक कर अन्दर आते हैं···

''दीदी ! इन्हें होश में लाओ, यह बड़े साहब की कार का हार्न है, मैं पहचानता हूं। आज तक कभी किसी के घर बड़ी से बड़ी गमी में भी नहीं गए और मेरे यहां बच्चों की मौत पर भी····''

और आत्म-दर्प से रोशन चेहरे पर शोक संताप के झाड़ फानूस लटकाये वे जल्दी-जल्दी बाहर चले जाते हैं, साहब के कंधों पर दो घड़ी सिर रख कर सुबकने । सुअवसर-जो आज तक किसी को नहीं मिला होगा, पूरे दफ्तर में···

(लेखिका के शीघ्र प्रकाश्य कथा संग्रह 'सुम्मी की बात' से)

□

कहानी

क़ब्र-गाथा

□ सिम्मी हर्षिता

एक प्रश्न के चार कोनों में चार प्राणी खड़े हैं और उससे अपनी-अपनी तरह से जूझ रहे हैं।

श्रवणकुमार के पिता कभी फौज में कर्नल थे। अवकाश प्राप्ति के बाद उन्होंने किसी कम्पनी में नौकरी शुरू कर दी है। अपने को सदैव घर से बाहर व्यस्त रखते हैं। सुबह नौ बजे तक अपने काम पर चले जाते हैं और रात घिरने से पहले लौटना नहीं चाहते ताकि घर में छायी अमावस अधिक गहरी न लगे। आज भी वे किसी फ्रण्ट पर हैं, पर अंतर इतना ही भर है कि कभी वे योद्धा की तरह उसका सामना करते थे और आज उससे बचकर उसका सामना कर रहे हैं। वे रतिका के सामने पड़ना नहीं चाहते।

श्रवणकुमार बैंक में मैनेजर हैं। साढ़े नौ तक वह भी चले जाते हैं मूल और सूद के सरकारी धंधे में। पीछे इस मकान में रह जाती हैं दो औरतें। परम्परा ने पहली औरत को नाम दिया है श्रवणकुमार की माँ और दूसरी औरत को पहचान दी है—श्रवण कुमार की पत्नी।

श्रवणकुमार की पहली पत्नी थी उनके बराबर के स्तर की—सुंदर, धनी-मानी घर की, डिग्री कालेज में व्याख्याता। पर बुरा हो इस दुनिया के सारे गोरख धंधों की जड़ शादी का जो कभी हौवा को हौवा या फिर शिला बना देती है और कभी आदम को रातों रात कहीं बहुत छोटा और कातर सिद्ध कर देती है। वे उसके सामने सप्ताह भर बीत जाने पर भी एक छात्र की सी स्थिति से आगे नहीं बढ़ पाए। एक भयावह प्रश्न-चिह्न से घिरे उस विवाह की आँख खुलते ही मृत्यु हो गई थी। पत्नी वापिसी खत को तरह आते ही लौट गई। अंततः मौन हस्ताक्षरी तलाक ने ही उस पाला मारे विवाह का शेष दाह-संस्कार कर दिया था।

पर फिर भी अपने प्रति एक भ्रम श्रवणकुमार के मन में कहीं बचा रह गया था।

इस बार जयमाला के लिए पत्नी को बहुत सोच-समझकर चुना गया है। जो उनकी मानसिकता और सामर्थ्य की परिभाषा के अनुसार भली और घरेलू हो—जो घर की दीवारों में फिट हो सके—जिसे पालतू बनाया जा सके—जिसके पास न मांगों की सूची हो—न अहं का परमाणु हो—जो दूर-पास की रिश्तेदार हो और विवाह उस पर उपकार हो !

और उधर जब आशा के विपरीत रतिका की साधारण घरेलू स्थिति का रिश्ता इस घर की विशिष्टता के साथ तय हो गया था तो उसके मन के आंगन में कितनी ही सुनहरी-झिलमिलाती कामनाओं के फूल खिल उठे थे—कितने ही छेड़छाड़ भरे गीतों के स्वर दिन-रात गूंजते रहते। उसे एक वरदान-सी सांत्वना मिली थी कि अंततः यह विवाह उसे अपने घर की उदासी और ठहराव से मुक्त कर देगा। वह उन्मुक्त जी सकेगी अब। पाई हुई सूचना के आधार पर उसे दुःख होने लगा था कि कैसे इस प्यारे से पुरुष को एक चरित्रहीन औरत ने तलाक की आग में झोंक डाला केवल अपने किसी पूर्व प्रेमी से विवाह रचाने के लिए ! वह अपने चरित्र को भली प्रकार से ताले में बंद कर साथ लाई थी अपने प्रिय को असीम प्यार देने के प्रण के साथ ताकि वह उस दुःख-अपमान को भूल जाए। किसी की प्रेमिका बनकर जीने का अपना सपना वह इसी रूप में सच करेगी।

× × × × ×

इस घर की चारों बेटियों की शादी हो चुकी है। इस शहर के आसपास ही रहती हैं। अकसर किसी न किसी का आना-जाना लगा ही रहता है अपने पति-बच्चों के साथ आती-जाती कोई-न-कोई छुट्टी बिताने, जिससे अच्छी-खासी रौनक जमा हो जाती है और ठहरा हुआ घर भागने-दौड़ने लगता है।

चारों बहनें क्योंकि जुड़वां-जुड़वां हैं इसलिए दो-दो बहनों का आना सदैव संग-संग होता है। जन्म, शादी, गर्भपात और फिर बच्चे—हर मामले में उन्होंने एक दूसरे के साथ जुड़वांपन निभाया है। यह घर उनकी बचकानी यादों और बहनापे की मिलन-स्थली है। आंगतुक देवी-देवताओं के आतिथ्य की सारी पुण्य-वाटिका रतिका के ही हिस्से में आती है। पर इस कर्त्तव्य-शृंखला में भी घर आए देवताओं से किसी सहज बातचीत और उनके सामने उठने-बैठने की बेअदबी पर बंदिश होती है। नख-शिख के चुंबक को आंचल से ढके, दृष्टि-नौका को पलकों के पाल में छिपाए हर काम पूरी तटस्थता और निरपेक्ष अनुशासन में करना। होकर भी न होने की ईश्वरीय योग्यता सिद्ध करना !

श्रवणकुमार की बहनें अपने बच्चों को दूध पिलाते हुए कभी ताना और कभी छेड़छाड़ भरे स्वर में कहती हैं—"रतिका, बहुत आराम कर चुकी हो ! बहुत ऐश हो चुकी ! अब तो दो से तीन होने के बारे में कुछ करो !"

"मैं क्या कर सकती हूँ ? अपने भैया से कहो न !"

उत्तर सुनकर और पारदर्शी चेहरा देखकर श्रवणकुमार की शक्ति स्वरूपा माँ रसोई के एकांत में शब्दों के कोड़ों से उसका कोर्टमार्शल करती हैं। वह सीखती रहती है अशांति में भी अशांति से जीने के लिए हर बात का मौन उत्तर देना—हर स्थिति में अंतिम शब्द सामने वाले पक्ष को ही कहना है, यह याद रखना। अन्यथा मुख खोलने का अर्थ है कई दिनों के लिए महाभारत को न्यौता देना।

संबंधों के स्तर पर और चाहे कुछ न बदले इंसान के हाथों, पर ऋतुओं का रंग

तो अत्यन्त ही बदल जाता है । यह अच्छा ही है कि मौसम के पन्ने मनुष्य के हाथों से बाहर हैं । अंधेरे में मुख छिपाए आई सुबह से लेकर तीसरे पहर तक की वंदिनी दिनचर्या से थोड़ी छुट्टी पाकर वह बुनाई के साथ बाहर बरामदे में जाड़ों की वापिस लौटती कमज़ोर-सी धूप के सुख में आकर बैठ जाती है, ऊन के गोले की तरह गुमसुम । पलकों को नीचे गिरे रहने की ऐसी आदत हो गई है कि उनकी बोझिलता दर्द से उठाए नहीं बनती ।

श्रवणकुमार की दूरदर्शी माँ, अपने बेटे की हितचिंता में, कपूर में रखी मिर्च की तरह सुरक्षा से पीछे-पीछे चली आती हैं । उस कच्चे-कोरे-से सिंदूरी घड़े को किसी काम-बेकाम की ठोकर से बचाए रखने के लिए—घर-गृहस्थी की मान-मर्यादा को बनाए रखने के लिए शंकित सावधानी से टोकती हैं—"मत बैठा करो यहाँ ! सामने के मैदान में लड़के खेलते रहते हैं !"

'वे तो लड़के हैं !' उसके अंदर एक उत्तर बुलबुले की तरह बेआवाज़ उभरता है । माँ जैसे उस मौन प्रतिक्रिया को सूंघ लेती हैं इसलिए अपनी बात को अधिक तर्कसंगत वज़न देते हुए कहती हैं—"सड़क पर से लोगों का आना-जाना भी लगा रहता है ! भले घर की बहू का यूँ बैठना...!"

एक गूंगा प्रश्न रुआंसे मुख में तिनके की तरह दबाए अनाथ भाव से उठकर अंदर आ जाना और मन के तालाब में डूब जाना—"सड़क इस भले घर की घेरेबंदी और बरामदे से इतनी दूरी पर है कि कुर्सी पर बैठने पर उसकी आवाजाही दिखाई नहीं देती । वह आप बैठेंगी तो उनके महिमाशाली भलेपन पर आँच नहीं आती । हँसी-ठिठोली करती पड़ोसी बहू-बेटियाँ हमउम्र संबंधों की बासंती धूप में बैठती हैं तो उनके भी चंचल भलेपन को बरामदे की हवा नहीं सुखाती-चुराती । तब मेरे ही अभागे भलेपन में ऐसा क्या है जो काफूर हो जाएगा ?'

अपने प्रश्न का जो उत्तर उसके अंदर उभरता है उसकी चिंदी-चिंदी कर वह भले-घेरे के मुख पर फेंक देना चाहती है । चाहती तो वह बहुत कुछ है, पर वह कह इतना ही पाती है कि निढाल-सी कंबल लपेटकर पड़ी रहती है कि तभी स्वार्थ की सलाखें उसके कानों को बेंधती हैं—"चलो उठो ! अधिक सोने से अंग जुड़ जाते हैं ! देह आलसी हो जाती है ! भला रात किसलिए बनी है ?"

रात की कालिमा उसके अंदर अट्टहास करने लगती है ।

कभी मेज़ पर सजे फलों का सवाल उठ खड़ा होता है—"एक संतरा कम क्यों है ? दुकानदार ने ही कम दिया था या तुमने...? इतना अधिक खाकर और हट्टी-कट्टी होकर तुझे भला क्या करना है ?" माँ की चौकसी कोई-न-कोई नई करवट बदल लेती है ।

प्रश्न सुनकर श्वास अवरुद्ध हो जाते हैं और एक निर्णय उनमें घुटने लगता है—"ऐसे नंगे सवालों-तानों का सामना करने से अच्छा है कि हर तरह की भूख को मार दफ़ना दिया जाए । पर आखिर मैं किस-किस इच्छा की हत्या करूँ ? कभी कुछ मनचाहा खाने की इच्छा ? पहनने की इच्छा ? इन दीवारों से बाहर घूमने की इच्छा ? सहज ढंग से जीने की इच्छा ? मेरी हर कामना कितनी अपमानित और विकृत होकर जी रही है । अंदर-ही-अंदर कितना भटकाती है ! कैसे मन की खोह में चुपचाप सरसराती और सिर पटकती रहती है !" वह देखने लगती है तृषित कामनाओं का अभिसार और फिर सुनती है उनका अरण्य रोदन ।

उसके विचारों की श्रृंखला को माँ का आक्षेप तोड़ देता है—"कहीं तू हमारे घर की बुराई-चुगली तो नहीं करती रहती पास-पड़ोस में ? आज चंदा फिर तुझे पूछ रही थी—"रतिका नहीं दिखाई दी कई दिनों से ! ठीक तो है न ? बीमार तो नहीं कहीं ?' क्यों ? क्या बीमारी है भला तुझे जो लोग राह चलते पूछने लगते हैं मुझ से ?"

"मैं क्यों करूंगी चुगली या बुराई ?"

"तो फिर पड़ोसिनें तेरा ही हालचाल क्यों पूछती रहती हैं मुझ से आते-जाते ? और किसी का क्यों नहीं पूछतीं ? तुझ से ही इन्हें इतनी हमदर्दी क्यों है ?"

उत्तर देने के बदले वह मन के सागर में डूब जाती है—"कह दूँगी कि वे भी मेरा हालचाल न पूछा करें। इस इज्ज़तदार घर की विसंगत स्थितियों में संगत बातें हो कैसे सकती हैं ? बंजर ज़मीन में झाड़-झंखाड़ ही तो उगेंगे और रेत में केवल रेत ही तो जन्म लेगी । एक बार जब कोई रेगिस्तान जन्म ले लेता है तो कैसे वह कण-कण बढ़ने-फैलने लगता है और अपने आसपास की धरती को भी रेत बनाने लगता है ! न जाने इस मरू का अंत कहाँ है ?"

पड़ोस में चंदा और मधु से रतिका का अच्छा परिचय है। कभी आमना-सामना हो जाने पर दो-चार बातें नन्हीं गेंद की तरह उछल कर घर की दीवारों के आर-पार चली ही जाती हैं, माँ के न चाहने पर भी। उसके प्रति चंदा का स्नेहीभाव कह देता है—"तुम्हें देखकर ऐसा लगता है जैसे कोई नया जन्मा पक्षी हो—जिस पर अभी पूरे रोयें न आए हों—जिसने अभी उड़ना न सीखा हो !"

और फिर उसके अंतस के घुप अंधेरे में उतरने का यत्न करते हुए धीमे से पूछती है—"तुम क्यों इतनी पीली और बुझी-सी दिखाई देती हो ? तबीयत तो ठीक रहती है न ?"

वह इन प्रश्न-द्वारों के आगे चुप्पी की चट्टान रख देती है—"मैं क्या बताऊँ कि मेरा अधूरापन क्या है ? कि मेरा रोग क्या है ? कि मुझे अपने आप से ही वितृष्णा क्यों होती जा रही है ?"

फिर एकाएक वह अनखा जाती है—"क्यों ? मुझे क्या होना है ? ठीक ही तो हूँ !"

चंदा विस्मित रह जाती है कि रतिका में यह कटुता क्यों ? मेरे सीधे-सरल सवाल का ऐसा टेढ़ा उत्तर क्यों ? क्यों कुछ लोगों को खिझाता है उनसे उनका हालचाल पूछा जाना ? तभी रतिका अपने स्वभाव में लौटी और मनाते हुए विवश-सी बोली—"चंदा, नाराज़ हो गई हो ? बुरा लगा न मेरा ऐसा अटपटाना ? क्या करूँ ? कभी मन बस यूँ ही बेबस, पागल कटखन्ना-सा हो जाता है।"

इससे पहले कि वह कोई उत्तर दे, अपने बच्चे के रोने की आवाज़ सुनकर उसके कदम घर के अंदर की ओर दौड़ गए। रतिका शून्य में ताकती रह गई खड़ी उस अपने वीराने में—"कहीं कोई नहीं जो इस तरह विकल होकर पुकारे कि वह उस पुकार पर सुध-बुध भूल कर बिछ-बिखर जाए !" तभी पीछे से मधु ने प्यार से उसे पुकारा—"कबूतरी कैसी हो ?"

यह संबोधन सुनते ही उसका अंतस हर बार अकालग्रस्त धरती की तरह दरक जाता है और चारों ओर धूल तथा धूप की तीखी अनुगूंज सुनाई देने लगती है—"मेरे

सिर स्वाह ! कबूतरी जैसी खुशनसीब होती है, मैं वैसी कहाँ हूँ ? पीछे वाले मकान के छत्त की मुंडेर पर देखती हूँ दिन भर स्लेटी कबूतरों का जोड़ा चोंच भिड़ाते और एक दूसरे की भावभरी परिक्रमा करते हुए । यह मेरा घर नहीं, मेरी कब्र है जिसमें मैं रोज दफ़न होती हूँ । जीवन की दुहागरात्रि ने मेरे स्वप्निल घर के सारे शीशे चकनाचूर कर डाले हैं । मेरा हर आज कल के हाथों गिरवी होता चला जा रहा है !' इससे पहले कि शब्द खारा जल बनकर बाहर झांकें, उसने हँसी की एक फाँक उस दरार पर रखकर जताया—"मैं ठीक हूँ । तुम सुनाओ, कैसी हो ?"

मधु अपने घर का गेट पार कर बरामदे में उसके पास आ गई प्रश्न का उत्तर देने को । इधर-उधर की बातों के बीच अपनी आदत के अनुसार वह अपने प्रति एकाएक गहरी चिंता से रतिका के कंधे पर अपना बाजू टेककर पूछ बैठी—"मेरा चेहरा कैसा लग रहा है आज ?"

उसकी चिंता का उत्तर चिंता से देते हुए रतिका किसी वैद्य की सी गंभीरता से बोली—"लगता है, आज तुम सोई नहीं । आँखें थकी-बोझिल-सी लग रही हैं । जैसे कोई नशा पिया हो ! क्या तबीयत ठीक नहीं है ?"

"वह नशा तो हम रोज़ ही पीते हैं ।" वह एकाएक सकुचाई गुलाबी मुसकान से बोली और सिर रतिका के कंधे पर धर दिया राग से । आशा के बिलकुल विपरीत उत्तर पाकर रतिका चौंक उठी और तन उसके हाथों से छूटकर पारदर्शी शब्दों के पार बदहवास-सा दौड़ता चला गया । मधु के चेहरे का गुलाबीपन उसके चेहरे पर आकर ललक से ठहर गया । उसका स्वप्न-पुरुष उसके निकट उसी वेग से आ खड़ा हुआ । उन कोमल पलों की रक्षा के लिए ही सूर्य ने अपनी जगह चंद्रमा को दे दी । तभी मधु को 'मधुर' बनाते हुए उसके पति ने पुकारा तो रतिका स्वप्निल गति से घर के अंदर लौट आई ।

उन नवब्याहे शब्दों के ताप में विद्युत का जो वेग था उसने मधुशाला के बंद द्वार खोल दिए थे । मधुपात्र को हिलाकर उसके आच्छादन को एकाएक हटा दिया था और अंदर बंद माधवी फेनिल रूप में पूरी उठान के साथ बिखरने लगी थी । तभी रसोईघर ने उसे पुकारा तो वह बेमन से वहाँ चली आई ।

आग पर रखा दूध अपने पात्र के ओंठों को जैसे छू पाने के लिए ही सीमांत से नीचे गिरने की परवाह किए बिना उफ़न आया था और वह रसोई में गुमसुम खड़ी देख रही थी उसका उफान और उसका बिखरना और सुन रही थी श्रवणकुमार की प्रिय माँ का चीखना-चिल्लाना कि दूध गिराकर क्यों अशुभ कर रही है ?

ज्वालामुखी के अंदर लावा बहता-झनझनाता रहा । लपटें सूने हृदय पर सिर पटकती-बिलखती रहीं ।

जब सारा घर अंधेरे में डूब गया तो वह धकियाई-सी अपनी कब्र में आ गई । उसकी लोहित पिघलन को समेटकर किसी सांचे में ढालने वाला वहाँ कोई नहीं था । कब्र के स्वामी पर एक घृणित मृगतृषा दृष्टि डाली और तकिए पर कढ़े 'मधुर स्वप्न' के नीचे रखी गोलियों में बंद नींद की मूर्छा भरी यातना अपने ओठों से लगा ली । ज्वार को भाटे ने अपने अंदर निगल लिया ।

मुँह अंधेरे आँख खुली तो टूटते हुए देखा—तन का तर्पण करने की बेला है । और फिर शुरू होता है पेट की भूख से जुड़ा एक और दिन । अखबार के शब्दों में खोए बैठे पुरुष को बिस्तर पर चाय देना । उस दिन पहने जाने वाले उसके कपड़ों की

देखभाल करना। उसकी पसंद का नाश्ता-भोजन बनाना और उसे डिब्बे में बंद करना। फिर अपने को भी हिदायतों के तहखाने में बंद कर लेना और एक के बाद दूसरे काम की जंजीर से अपने तन-मन को बांधते चले जाना। यदि सारा दिन कोल्हू नहीं चलेगा तो गृहस्वामिनी को संतोष, सुरक्षा और आश्वस्ति का तेल कैसे मिल सकेगा?

बेटे के प्रति युगों पुरानी ममता मंगलवारी सत्संगी औरतों में बिना पैरों के झूठ में ढिंढोरे के पाँव बांधते हुए सुनाकर कहती है—"आज रतिका को डाक्टर के पास ले गई थी। उसने इसमें कुछ कमी बताई है। शायद आपरेशन करवाना पड़े! हाय! मेरा बेटा कैसा अभागा है! पहली औरत चरित्रहीन निकली और दूसरी बांझ!" श्रोताओं की सहानुभूति से उसने अपने पल्लू की दोनों गांठों को और बड़ा कर लिया और संतोष से सामाजिक प्रतिष्ठा का लबादा ओढ़े घर में प्रवेश किया।

रतिका को अपनी इस तथाकथित डाक्टरी जांच, कमी और आपरेशन की सूचना चंदा से मिलती है और वह सुनकर रुआँसी-सी हँस देती है—"बहना! कमी औरत में ही होनी चाहिए—औरत में ही होनी शोभा देती है! घरों का कूड़ा घूरे पर ही जंचता है!"

चंदा सहानुभूति और जिज्ञासावश उससे इस संभावित आपरेशन के बारे में पूछती है और फिर तरह-तरह के सुझाव देती है कि कौन-सी डाक्टर अच्छी रहेगी—कि इसमें घबराने की कोई बात नहीं—कि मामूली-सा आपरेशन होता है—कि मेरी भाभी ने भी करवाया था और अब दो बच्चों की माँ है—कि कई बार देर हो ही जाती है - कि तुम चिंता न करो!

उसने ध्यान-वेध्यान-से सुनकर 'हाँ-हूँ' कर दी और फिर सोच के भंवर में डूबते-उतराते हुए मूर्छित-से शब्द चंदा तक पहुँचने लगे—"चिंता कैसे न हो चंदा? वह तो होती ही है, न चाहने पर भी। धरती से फसल पाने के लिए उसे जोतना तो पड़ेगा, बीज तो डालना पड़ेगा। पर मेरी इस अभागी धरती को कुछ मिलने वाला नहीं। नारीत्व तथा मातृत्व की ऋतु यूँ ही लौट जाएगी खाली हाथ। विकास-सुख का कोई रूप मेरे हिस्से में नहीं आ सकता। मैं वर्णमाला का वह अक्षर हूँ जिससे कोई शब्द नहीं बनता। मैं वह झील हूँ जिस पर सदा हिमखंड ठहरे रहते हैं—जिसमें कभी कोई कमल नहीं खिल सकता। मैं एक पत्नी नहीं, सामाजिक प्रतिष्ठा के शोकेस में रखा पत्नी का ढांचा मात्र हूँ। मैं केवल तलाक के धब्बे को धोने का साधन हूँ। युगों बाद कभी किसी पल विवाहित जीवन का एक चिरप्रतीक्षित अर्थ मेरी ओर उत्साह से हाथ बढ़ाता है और फिर अगले ही पल हवा निकले गुब्बारे की तरह निस्पंद हो जाता है। आरोह से पहले ही अवरोह की हताश स्थिति से मुख छिपाने के लिए पुरुष का क्रूर कुंठा की अंधी खाई में जा गिरना। मेरा तन-मन उन घावों से छलनी हो चुका है। प्यास लगी—मिलकर पी लिया और भूल गये। पर न पी पाने की आकुलता एक पल को भी विस्मृत नहीं होती। कामलता के वन में दिन-रात भटकना और ख्वाब में भी छीछड़े देखना! मेरा यह जीवन मुँह बायें बस इसी सीढ़ी पर अटककर रह गया है—न नीचे उतर पाना—न आगे जा पाना। चारों ओर सायं-सायं करता अनंत रेगिस्तान! न कोई भविष्य—न कोई वर्तमान।"

"यह सब तुम क्या कह रही हो, रतिका?"

"क्या मैंने कुछ कहा? कुछ तो नहीं! अंदर चलूं। सत्संगियों के लौटने का समय होने को है। अंदर शायद फोन की घंटी बज रही है।"

शयन-कक्ष की खिड़की आंधी के तीखे धक्के से एकाएक धड़ाम से खुल जाने और चंदा को अंदर का दलदली अंधेरा दीख जाने से घबराकर वह दीवारों के अंदर लौट आई और तकिए के 'मधुर स्वप्न' पर बोझिल सोच रख दी—

"...एक रिश्ते की गांठ में बांधकर जब से मुझे यहाँ लाया गया है, बस एक 'शायद' मेरी धड़कनों में बंद है या मैं ही इस 'शायद' की चूहेदानी में कैद हूँ। प्राण फड़फड़ाते हैं, पर अपने में हवा समेटकर उसके बंद द्वार को धक्का नहीं दे पाते। दो टूक निर्णय ले सकने के लिए छूट चुके माँ-बाप के पास उनकी याद के बहाने से बार-बार जाती हूँ और फिर चुपचाप विवाहशुदा आशीर्वाद लेकर श्रवणकुमार के पीछे-पीछे वापिस लौट आती हूँ 'शायद' की रस्सी से बंधी हुई। श्रवणकुमार की चौकसी दो दिन से अधिक मुझे वहाँ रुकने नहीं देती और न एक पल के लिए अकेला छोड़ती है। यदि वे नहीं सामने होते तो उनकी पुकार मेरा पीछा करती रहती है और माँ निहाल हो जाती है इस प्यार पर ! शायद वहाँ परिस्थितियाँ कुछ ठीक हो जाएँ या शायद यहाँ कभी कुछ बदल जाए। पर वहाँ माँ खून की उलटियाँ करती हुई अस्पताल जा पहुँची है और पिता दिल थामे बैठे रहते हैं। न यहाँ जी पाती हूँ—न वहाँ जा पाती हूँ अपने दु:ख की गठरी उठा कर उनके दु:ख पर उसे रखने के लिए। इस जाल से अब जीते जी निकल पाना संभव नहीं लगता। हर सुबह का एक अंधेरे से शुरू होना और हर रात का दूसरे अंधेरे में डूब जाना। हर रात एक कब्र और दिन उस पर फैली सीली मिट्टी की काली चादर ! हर पल एक पक्षी ज़िंदगी की कुंठित तपिश। पल-पल सालता हताशा का पाला जीवन की हरियाली और फसल को मार देने वाला। अशांत तन-मन की भूकम्प खाई दीवारों की कंपन को किसी शंकित सेंध से बचाने के लिए उसके चारों ओर कांच रोप देना। बहेलियों को चिड़ियों की नहीं, चिड़ियों के पंखों की चिंता ही अधिक सताती है। टूटे पंखों से फड़फड़ाती उड़ान। सुख का पता पूछकर बार-बार उसे नेह की लेखनी से—प्रार्थना की स्याही से—धैर्य और प्रतीक्षा के कागज़ पर ख़त लिखना और उसका निरुत्तर लौट आना ! बार-बार जीवन की अच्छाई, सुंदरता और विश्वासों पर से भरोसा टूट-फूट जाना। एक रागहीन दारुण यात्रा। कहीं कोई पथसाथी नहीं—कहीं कोई पथगीत नहीं। निस्पंदभाव से दंडित करती जड़ स्थितियों से घिरा निहत्था मन रह-रह कर प्रश्न उठाने के सिवा कुछ कर नहीं पाता। वे लोग कितने भाग्यशाली हैं जिनके पास सहेजकर रखने वाली यादों के ख़त आते हैं ! मेरे हाथ आए हैं रद्दी कागज़।'

माँ मंगलवारी महिमा-सत्संग में गई हुई है।

तीसरी बार फोन की घंटी घड़घड़ाती हुई बज रही है।

अपनी धर्मपत्नी के अकेलेपन की भयावह चिंता बैंक में मैनेजर की कुर्सी पर बैठे साहब को हो रही है। कभी वे कुछ पूछ लेते हैं, कभी मौन रह जाते हैं उसकी हाज़िरी से आश्वस्त होकर।

× × × × ×

बूंदाबांदी से जन्मी मिट्टी की सोंधी सुगंध और रह-रहकर जगती मोरपंखी हिलोर। फुहार का कोमल-शीतल स्पर्श तापित भावनाओं पर। प्रकृति में विकलता भरे मिलन की एक अभिलषणीय गतिशीलता। पत्तियों की मुरझाई और धूलधूसरित हथेलियों पर गगनचुम्बी बादलों का आतुरभाव से झर-झर कर उनकी उदासी और चिरप्रतीक्षा को

धोना—अपने अंतस की कोई मधुघुली कथा गुपचुप सुनाना। रतिका का उस कथा में रह-रहकर डूब-खो जाना। श्रवणकुमार की कठ-उपस्थिति से उदासीन हो अपने स्वप्न-पुरुष के साथ कहीं ओझल हो जाना।

वे दोनों पति-पत्नी, उनका प्यारा-सा बच्चा और उनकी बातों की लय। ये दोनों पति-पत्नी, इनके सर्वव्यापक-सर्वत्रगामी माता-पिता और उनकी संवादहीनता। मित्र के पास कैमरा है जो बादलों के छंट जाने पर आज की संग-साथ भरी यादों को कल के लिए संजोना चाहता है।

मित्र ने पिकनिकी उत्साह में भरकर सबके मिले-जुले कई चित्र खींचे-खिचवाए हैं। श्रवणकुमार के साथ रतिका का और फिर माता-पिता के चित्र। मित्र दम्पत्ति का अपने बच्चे के साथ। दोनों पत्नियों का संग-संग कैमरे के सामने खिलखिलाते हुए खड़ा होना और फिर दोनों पतियों का···।

घर लौटना हुआ और कमरे के कैमरे में बंद होकर एक ही जिरह बार-बार होने लगी····"तुमने क्यों खिचवाई थी फोटो उसकी पत्नी के साथ? उस आदमी की नीयत तुम पर थी। तुम उसे क्यों देख रही थीं बार-बार? क्यों हँस-हँस कर बातें कर रही थी उन लोगों के साथ? इसीलिए उसने तुम्हारी फोटो अपनी पत्नी के साथ खींच ली थी बहाने से!"

"पिकनिक में किसी के साथ जाएँगे तो देखना और बातें क्या नहीं होंगी? क्या हम वहाँ किसी का स्यापा करने गये थे? महीनों बाद घर से बाहर निकलना हुआ था। हँसकर बात न करती तो क्या अपने जीवन का बारहमासा रोना-रोती उनके सामने? आपको तो खुश होना चाहिए था कि आपकी पत्नी खुशी का कितना अच्छा नाटक कर लेती है! दोस्त आपका है! पिकनिक का कार्यक्रम आप दोनों ने मिलकर बनाया था! कैमरा उसका था! फोटो वह खींच रहा था आप सबके सामने! तब इसमें मेरा क्या कसूर?"

"कसूर है तुम्हारा! मना क्यों नहीं किया? क्यों झटपट मान गई थी? अब पता नहीं तुम्हारी फोटो के साथ वह क्या करेगा? फोटो के रूप में तुम अब उसके पास, उसके घर में हो!"

"आखिर क्या करेगा वह कागज़ की उस फोटो के साथ? क्या···?"

"कुलटा!" बिफरा हुआ एक तमाचा। बाल पंजे की हिंसक चपेट में। सिर पलंग की पाटी पर···।

उस दिन न जाने क्यों ऐसा हुआ था कि वह मार उसके तन को नहीं, मन और मान को चोट पहुँचा रही थी और अपने पुरुष का मनोविज्ञान एक सिरे से भूल गई थी। मार-काट को सदा की तरह उसकी हताशा और बेचारगी समझकर सहानुभूति से चुपचाप उसे सहने के बदले घर-गृहस्थी की प्रयोगशाला की वह गिनीपिग उस दिन पहली बार अपने बचाव का उपाय तलाशने लगी थी। उस खोज़ में उसके सिले हुए मुख के टांके अधिक खिंचाव और दबाव पड़ने से एकाएक उधड़ गये थे और क़फ़न फट गया था। शब्द निर्वस्त्र होकर सामने आ खड़े हुए थे और उसे पुकार-ललकार कर बोले—"अरे तोहमती! नामर्द!" शब्द चारों दिशाओं में चीख-चीख कर गूंजने लगे। "तो तुम भी अपने को पति कहते-मानते हो? तुम्हें भी एहसास है पति होने का और पत्नी पर अपने

कानूनी अधिकारों का ? यूँ मारकर अपना तथाकथित पौरुष जताते हो ? तुम से और
आशा भी क्या की जा सकती है ? काश ! मैंने अपने माँ-बाप के सामने अपना मुख खोलने
की हिम्मत जुटायी होती—उनकी आँखों में अटकी बेटी के विवाह की खुशी की नन्हीं-सी
अंतिम किरण की परवाह न की होती और यूँ बिना आग के सती होने से इन्कार कर दिया
होता…।”

बालों पर ही कठोर पकड़ तानों से छलनी होकर बीच में ही छूट चुकी थी, पर
रतिका के शब्द उस पर अपनी जकड़ कसते जा रहे थे—“…आखिर तुम भी एक इन्सान
हो—यह न सोचा होता ! तुम्हारे पास भी एक मन है—तुम्हें भी दूसरे लोगों की तरह
दु:ख-सुख व्याप्ता है—अकेलापन काटता है – यह भी न सोचा होता । तुम भी संबंधों की
सहजता देना-लेना चाहते हो—स्वस्थ गृहस्थ जीवन के सपने देखते हो और उन्हें साकार
करने के लिए विज्ञापनों और दवाओं के अंधे जंगल में दिन-रात भटकते रहते हो—शायद
कभी दु:स्वप्न हमारा पीछा करना छोड़ दें—यह सोचने की ज़रूरत न समझी होती । यदि
मैं अपने अंदर की औरत को न पा सकी तो अपने पुरुष को न पा सकने का दु:ख तुम्हारा
भी तो उतना ही घना है—यदि मैं एक अंधेरी सुरंग से गुज़र रही हूँ तो तुम्हारी सुरंग भी
तो उतनी ही अंधकारमय है—यह ताना-वाना भी बार-बार न बुना होता और अपने को
उसमें उलझाकर दुर्वल न बनाया होता तो विवाहित जीवन की इस अतिवादित कब्र गाथा
से मुक्त हो जाती । वह समर्थ औरत उठकर चली गई और यह कब्र मेरे हिस्से में आ
गई !”

सामने के सोफे पर बैठी थी पराजित खंडित मूर्ति और परदे के पीछे अपमानित
कोख का साया डोल रहा था अपने कानों को अंदर भेज कर—“…यदि मुझ जैसी अभागियों
के माँ-बाप बीमार और लाचार न होते तो तुम जैसों को कैसे मिलती बार-बार पत्नियाँ
इस खंडहरनुमा समाज में अपने मान और पौरुष की रक्षा के लिए ? शायद गलत कहा !
अपने माँ-बाप के बल पर, अपने बाहरी रंग-रूप और पद-पौरुष के बल पर तुम चाहे
जितनी बार विवाह की नौटंकी रचाते और घर-गृहस्थी का ढकोसला खड़ा करने में सफल
हो सकते हो । सभ्यता के दावेदार भले घर के मनुष्यों से भली तो पशुओं की पशुता है
जिनके माँ-बाप अपने धन और पद के बल कर अपने बेटे-बेटियों के लिए नर-मादा संबंध
खरीदना-बेचना नहीं जानते । यदि तुम्हें पता थी अपनी सच्चाई तो तुमने दूसरा विवाह
क्यों किया ?”

प्रश्न एक फंदे की तरह श्रवणकुमार के गले में झूल रहा था । एक आतमघाती
काला साया उसके चेहरे पर पंख फड़फड़ा रहा था ।

आहत पुरुष का अहं उस अंधेरे में उठकर घर से बाहर चला गया था ।
गई रात तक न जाने कहाँ-कहाँ भटक रहा था ।

कुशंकाओं की आंधी में डांवाडोल गुर्राती-झपटती हिंसक ममता की काली-कसैली
जीभ एक सहवासी गाली से दूसरी पर फिसलती-रपटती आसुरी विलाप कर रही थी—
“…अरे ! बेटा चाहे कैसा भी है, है तो वह बेटा और उस पर तुझ जैसी कितनी ही
औरतें बारी फेरी जा सकती हैं । मेरा बेटा तो दवाइयाँ खा-खाकर ठीक हो गया है, पर
तेरी ही डायन-भूख…! तुझे कोई भला घर नहीं कोठा चाहिए…।’’

उस रात संसार की असंख्य कब्रों में से जब एक कब्र बोली तो भयभीत मनः स्थितियों ने इतनी तेज़ी से करवट ली कि रतिका की सारी माँगों में से एक को हल होना ही पड़ा और उस 'कुंवारी माँ' के द्वार पर एक के बाद दूसरी बधाई दस्तक देने लगी।

श्रवणकुमार की पत्नी पहले की ही तरह दिन-रात काम में जुटी रहती है।

श्रवणकुमार की माँ की दोनों आँखें अपने पोते के पालन-पोषण में दिन-रात लीन रहती हैं और तीसरी आँख रतिका पर टिकी रहती है।

श्रवणकुमार शाम को दफ्तर से लौटकर उस नन्हें बालक को बच्चागाड़ी में लेकर बरामदे में घुमाते रहते हैं। पर जैसे ही पड़ोसी युवतियों की जिज्ञासु-प्रश्निल दृष्टि उन पर ताक-झांक करती है या उनका सलाहकार पड़ोसी डाक्टर विस्मित आँखों में कोई असफल अटकल लगाने का यत्न करता है तो उनके चेहरे का सांवला रंग अधिक गहरा हो उठता है और वे चुपचाप अंदर लौट आते हैं।

□

दो कविताएं

पिछली बार

□ डा० जगमोहन चोपड़ा

पिछली बार
मैं कितना प्रसन्न था
धूमकेतु-सा
हर्सोल्लास से भाव-विभोर
घसीटती भौंर के पीछे
पर लौटना पड़ा मुझे
क्योंकि तुम्हारी झोली में चाँद था
और मेरे हाथ से
साबुन की गीली टिकिया-सा
फिसल गया था
सूरज ।

जहां शब्द सक्रिय थे

मैं कहीं ऊपर खड़ा था
मेरे आस-पास
मेरे दृष्टि क्षेत्र तक
वह सब कुछ था
जिसे मैं देख रहा था
हाथ बढ़ा छू
सकता था
और महसूस सकता था
उन्हें
मेरे सामने
एक पूरा काव्य बिम्ब था
सूर्यास्त का
एक सोद्देश्य कविता के जन्म का
मैंने दृष्टि उठायी
और पलकों में
उन्हें वहीं बैठा दिया
जहाँ सक्रिय थे
शब्द

□

कहानी

प्रदेश बंद

□ चन्द्रकांता

वह मध्यम कद काठी का इकहरे बदन वाला लड़का था। उसके उभरे हुए हड्डियल गालों के ऊपर कोटरों में धंसी आँखें आवेश से कंचे की तरह चमक रही थीं। आलू प्याज़ की ढेरियों बीच वह तने हुए झंडे की तरह गड़ा हुआ था। जबकि पूरे प्रदेश की सरकारी इमारतों पर झंडे आधे झुके हुए थे।

जी हाँ, पूरे प्रदेश में गर्मी हो गई थी। एक ख्याति प्राप्त, अवकाश प्राप्त वयोवृद्ध मंत्रीजी परलोक धाम सिधार गए थे। लोग दुःखी थे क्योंकि मंत्री जी ने एक लंबी उम्र प्रदेश की सेवा में गुज़ारी थी। तमाम उम्र उन्होंने पंद्रह अगस्त, छब्बीस जनवरी, चुनावों के दौरों में और विभिन्न उद्घाटन समारोहों के दौरान, गरज़ जब भी जनता-जनार्दन से रू-ब-रू होने का दुर्लभ अवसर मिला, गरीबी की रेखा से नीचे जी रहे दुःखियों के कष्ट-भरे दिनों को बदलने के ढाढस और भरपूर आश्वासन दिए थे।

रात रेडियो, दूरदर्शन से ही सूचना दी गई थी कि दिवंगत की आत्मशांति और सम्मान की खातिर कार्यालय फैक्ट्रियाँ, स्कूल-कालेज बंद रहेंगे। सरकारी इमारतों पर झंडे झुका दिए जायेंगे, यानी एक तरह से "प्रदेश बंद" का ऐलान किया गया था।

सो, कार्यालयों में छुट्टी थी। सिनेमा थियेटरों में ताला लगा था। सड़कों पर दौड़ते कुछेक वाहनों में ठुसे लोग शायद दिवंगत आत्मा के अंतिम दर्शनार्थ उनके निवास पर जा रहे हों, जहां एक विशाल पंडाल में पूरी सैनिक सुरक्षा में, उनका पार्थिव शरीर जनता के दर्शनों के लिए रखा गया था। इसी कारण रोज के मुकाबले में सड़कों पर चहल-पहल काफी कम थी। कहीं-कहीं कारें, स्कूटर आवाजाही कर रहे थे। फुटपाथ पर व गलियों के मोड़ों पर यहाँ-वहाँ कुछ लोग झुंडों में खड़े बतिया रहे थे। शायद दिवंगत व्यक्ति के गुणों का बखान करते रहे हों। यों भी सभ्य लोग "निल निसी बोनम" के कायदे-अनुसार देह-छूटी आत्मा के गुणों का स्तवन करना अपना धर्म समझते हैं, फिर यह ताज़ा मौत की घटना थी। या हो सकता है कुछ लोग छुट्टी की वजह से यों ही ही बाहर आकर चार दोस्तों से मिल सुख-दुःख की बातें कर रहे हों।

शहर के प्रसिद्ध बाजारों पर मातम का आवरण छाया हुआ था। ज्यादा दुकानों के पल्ले बंद थे। पर कुछेक दुकानदार दुकानों के आधे पल्ले खोल कर बैठे थे और अपने बही खातों में आँखें गड़ाए मसरूफ नज़र आ रहे थे। यों बीच-बीच में कनखियों से दायें

बायें के दुकानों की ओर नजर भर ताकते भी जा रहे थे। कहीं अगला ग्राहकों को माल तो नहीं बेच रहा ? इक्का-दुक्का सिपाही रोज़ की तरह चौराहों-मोड़ों पर खड़े ड्यूटी बजा रहे थे पर लगता था उनकी खोजती नज़रें, नियम-कानून भंजकों की तलाश में कुछ ज्यादा ही चौकन्नी हो गई हैं। कोई-कोई दुकानदार वैराग्य भाव से सड़क पर से गुज़रते वाहनों पर दृष्टिपात कर कान या नाक खुजाता वक्त के गुज़रने के इंतज़ार में बैठा था।

सो एक तरह से लोग घरों में कुछ भी करने को स्वतन्त्र थे। ठंड में सुबह सात बजे बस के लिए भागने वाले आराम से दिन चढ़ने तक बिस्तरे में रहने का दुर्लभ अवसर पा गए थे। बच्चे भी रोज़ के कड़े अनुशासन से मुक्ति पा गए थे। घरों की गृहणियां फुरसत से ही चाय-नाश्ते के प्रबन्ध में जुटी थीं, कोई हबड़-तबड़ तो थी नहीं।

ऐसे में देश की करोड़ों औसत गृहणियों में से कुछेक ने अपने-अपने रसोई घरों में जाकर पाया कि सब्ज़ी तो एकदम नदारद है। महीने का आखिर, सो दालों के डिब्बे भी तले दिखाने लगे हैं। बिना सब्ज़ी के कैसे चलेगा ? उन्होंने तय किया कि सब्ज़ी मार्केट जाकर कुछ तरकारी ले आएंगे। दफ़्तरों में छुट्टी तो है पर पापी पेट तो व्रत-अनुष्ठानों में भी कभी छुट्टी मंजूर नहीं करता। बल्कि उन दिनों भजन-पूजन के बदले खास पकवानों की मांगों में कुछ ज्यादा ही व्यस्त रहता है। घर में मौत होती है तो बच्चों को पड़ोसी के घर भेजा जाता है। आँखें रोयेंगी, हृदय हाहाकार कर उठेगा, पर पेट में चूहों का दौड़ना बंद नहीं होगा। प्राणवायु निकलते ही जल्दी से जल्दी, घर के प्रिय सदस्य को, तमाम गीली आंखों और भावभीनी श्रद्धांजलियों के साथ, अंतिम संस्कारों के लिए अंतिम स्थान पर अंतिम परिणति के लिए भेजने की तैयारियां होती हैं।

दुनियादारी, दुनिया की रिवायतें और इन्सानी ज़रूरतें, यानी धर्म और कर्म साथ-साथ, श्रद्धा और विवशता बांहों में बांहें डाले, साथ-साथ चलते हैं। विवशता तो शरीर की सीमा है ही।

सो गृहणियों को अपनी सीमायें नज़र आयीं। गृहस्थ-धर्म की कार्य-प्रणाली में अनुशासनहीनता, अदूरदर्शिता ! कानों में अबोली धमक गूंजने लगी, घर में सब्ज़ी नहीं तो दिवंगत आत्मा के दुःख से दुःखी परिवारजन तेरी अकुशलता को क्षमा नहीं करेंगे। सो कोई न कोई जुगाड़ बिठाना होगा।

इसी ऊहापोह में कुछेक रमणियां, टोकरी-थैले लेकर स्थानीय सब्ज़ी मार्केट चली गईं। सोचा, ताज़ी नहीं तो बासी सब्ज़ी ज़रूर मिलेगी। खाना तो खायेंगे लोग ! सब्ज़ी मार्केट पहुँचे तो देखा मार्केट तो वहीं है पर सब्जियाँ गायब हैं। कुछ खुली-अधखुली दुकानों पर आलू-प्याज़, तोरी-कुम्हड़े ही नहीं, हरी सब्जियाँ, पालक-चौलाई-बथुआ-की भरी-भरी टोकरियों पर भी फटी बोरियों-गूदड़ों के आँचल डाले गए हैं, सब्ज़ी वाले दुकानों पर बैठे, आते-जातों पर दृष्टिपात करते जा रहे हैं या यों ही आसपास बेवजह सड़कें नाप रहे हैं।

एक घरेलू किस्म की महिला ने एक सब्ज़ी वाले से कहा, "सब्ज़ी चाहिए"। उसने तटस्थ स्वर में उत्तर दिया—"नहीं है !"

"भई बड़ी ज़रूरत है।" एक नाज़ुक महिला उतरा चेहरा लिए अनुरोध करने लगी।"

"हम क्या करें ? ऊपर से बेचने का आर्डर नहीं है।" उत्तर में दुहरी लाचारी झलक आई।

"तो सब्ज़ी बेचने की भी मनाही है ?" एक भारी भरकम महिला झुंझलाकर पूछने लगी—"क्या आज पेट की भी छुट्टी है ?"

"हमें क्या मालूम माँ ?" सब्जी-वाला फटे टाट के टुकड़े से झांकते लाल-लाल टमाटरों को ढकने लगा जैसेकि महिलायें लपक कर एकाध टमाटर छीन ही लेंगीं ।

"तो क्या कुछ भी न मिलेगा ?" उनके स्वर में ईमानदार चिन्ता की झंकार थी। उसे महसूस करके ही शायद एक दुकानदार ने उंगली से आगे की ओर इशारा किया—"उधर, उस तरफ जा कर देखिए।"

बैग-टोकरियां सम्हाले कई जन इशारे की दिशा में लपक लिए। सामने कुछ छिटपुट दुकानें खुली-अधखुली नज़र आईं । कुछेक सब्जिए बीन्ज़, परवल, पालक-आलक, कुछ इस तरह दायें-बायें मुड़-मुड़कर, लुक-छिप कर बेच रहे थे, गोया किसी के घर में सेंध लगा रहे हों ।

"जल्दी करो भाई। मां, थोड़ा जल्दी, बस ! बस इतना ही है, खत्म हो गया...... ।"

कुछ सब्ज़ी वालों ने दो रुपये किलो कुम्हड़े का भाव चार रुपये कर दिया था। सूखी-मरी मटर चार रुपये की बजाय एकदम सात रुपये बिक रही थी।

"अरे भाई, कल ही तो चार रुपये भाव था। ये क्या अन्धेर है...... ।"

"कल की छोड़िए। आज तो बीस में भी न मिलेगी। ये तो हम दे रहे हैं। गनीमत समझिए ।

"गनीमत क्यों ? दुगुने पैसे ले रहे हो। ज़रा चुनने दो...... ।"

"अजी जाओ, चुनना हो तो कल आ जाना। चार रुपये की चीज़ लोगे और चालीस का नुकसान कराओगे । वो पीछे पुलिस खड़ी है, लेने के देने पड़ेंगे...... ।"

थोड़ी हीलो-हुज्जत के बाद महिला छः रुपये थमा कर मटर बैग में भर रही थी कि सामने की गली से चार-छः हीरोनुमा छोकरे एक गरीब सब्ज़ी वाले के सिर से गवार-कुंदरु से भरी टोकरी हथियाने में जुटे नज़र आए । हाथापाई में गरीब का माल सड़क पर बिखरता जा रहा था । लेकिन सब्ज़ी वाला बुड्ढा भी बड़ा हिम्मती निकला, एक हाथ से टोकरी को कस कर भींचे दूसरे हाथ से थोड़ा झुककर गवार की फलियां बटोरने में मुस्तैदी से लगा हुआ था । इस लूटमार को देखकर मटरवाला न जाने टोकरी उठाकर किस दरार से अंतर्ध्यान हो गया, मालूम ही न पड़ा। ऊधमी लड़कों का झुंड, "बंद करो, वरना सारी सब्ज़ी कचरे में डाल देंगे......" कहते, धमकाते छुट्टे सांडों की तरह लोगों को धकियाते घूमने लगे । किसी पार्टी विशेष के कार्यकर्ता थे शायद। सड़क पर बैठे फटेहाल, बूढ़े-अधनंगे सब्ज़ी फरोशों को देखकर उनकी आवाज़ कुछ ज्यादा ही ऊँचा सुर उठा रही थी । इस ऊधमी गिरोह को देख, रहे सहे दुकानों के पल्ले भी तेज़ी से बंद होने लगे थे । लेकिन जहाँ दूसरे दुकानदार हबड़ा-तबड़ी में माल उठाकर भागने की कोशिश में लगे थे, बंडी, ठेले-वेले गलियों में घुसा दिए जा रहे थे, वहीं एक पूरी खुली दुकान पर, उन्नीस-बीस की वय का सींकनुमा लड़का आलू प्याज़ की ढेरी के ऐन ऊपर सावधान की मुद्रा में खड़ा हो गया था । यानी कि झंडे की तरह गड़ा हुआ था ।

आस-पास कुछ बुजुर्ग उसे मुनहार-पुचकार भरे स्वर में समझा रहे थे—"क्यों भइया, बेकार का टंटा खड़ा कर रहा है । बढ़ा लो तुम भी दुकान । एक दिन के बंद से कितना फर्क पड़ेगा......?" तभी जाने क्या हुआ, बोलने वाले ने अनजाने ज्यों सोये

चित्तकोवरे को कौंच कर छेड़ दिया। लड़का ताव में आ गया, "क्या फर्क पड़ता है ? बोले, तो जाकर मेरे घर में बता के आ। क्या फर्क पड़ता है ? बड़ा धन्ना सेठ समझ के रक्खा है हमको ? फर्क नहीं पड़ेगा ? दिहाड़ी कमा कर दस जन को खिलाने वाला है हम। एक दिन नहीं कमायेगा तो पूरा फेमिली भूका मर जाएगा··· ।"

"वह तो ठीक है भइया। हमारा भी कौन-सा फायदा हो रहा है। पर आखिर एक बड़ा आदमी गुज़र गया है। हमारा भी कुछ फर्ज बनता है··· ।" खिचड़ी दाढ़ी वाले बुजुर्ग की आवाज़ में दानिशमंदी थी। लेकिन लड़का ताव खा गया था।

"फर्ज बनता है। साऽऽव हमारा फर्ज बनता है ? बड़ा आदमी मरता है तो छुट्टी करो दफ्तरों में। हमको क्यों सताता है ? हमारा बाप मरा तो छुट्टी किया ? वह रेलवे क्रासिंग पर माल ढोता कट गया। कोई दफ्तर बंद हो गया ? इधर-उधर रोज़ कितना आदमी मरता, आसाम में मरता, बिहार में मरता, पंजाब में मरता, देस में देखो किधर भी, जवान-जहान लोक खलास होता। कोई भूक से मरता कोई गोली से मरता। फिर सबके लिए छुट्टी करो। गरीब आदमी क्या कुत्ता होता है ?"

लोग उस सिर फिरे को समझाने के लिए सही लफ्ज ढूँढ नहीं पा रहे थे। चार-छः आदमी तैश में आकर उसके आलू-प्याज़ सड़क पर छितराने लगे थे। लड़का हाथ-पैर चलाता उन्हें रोकने की जी तोड़ कोशिश कर रहा था। भीड़ हक्की-बक्की खड़ी थी। इसी बीच एक पुलिस वाला आकर लड़के की बाँह पकड़े खींचने लगा था—"गंडगोल करता ? क्या बोलता तुम ? मंत्री जी की शान में गुस्ताखी करता ?"

गुस्से में आकर पुलिसवाला एक वाक्य के साथ दो धौल भी लगाता जा रहा था। लड़का बायें हाथ से अपना बचाव करता भी बराबर चिल्ला रहा था···"हमने गुस्ताखी नहीं किया जो बोला सो सौ बार फिर बोलेगा जाकर राजीव गांधी से बोलो···चीप मिनिश्टर से बोलो···।

"अब जो बोलेगा सो थाने में बोलना, चल ··।" पुलिस वाले ने माँ-बहन की गाली देते हुए डंडे से लड़के को कौंचा। हल्की चीख के साथ लड़के की आग उगलती आँखों में गर्म चश्मे उमगने लगे। थाने का नाम सुनते ही उसकी रीढ़ की हड्डी में कंपकंपी भर गई, तमतमाते चेहरे का रंग उड़ गया, निहायत दीन स्वर में लड़का घिघियाते हुए बोला— "हमको थाने मत ले जाओ, साहब ! हमारा माँ रोते-रोते मर जायेगा। हमने क्या गुस्ताखी किया ? हम बोला छुट्टी दो जितना मर्ज़ी दो, आफिस बंद करो, सिनेमा बंद करो, पर गरीब आदमी के पेट पर तो लात मत मारो···"

पुलिस वाला लड़के को घसीट कर ले जा रहा था और लोग चुपचाप अपने-अपने घरों की ओर लौटने लगे थे। □

दो कविताएं

रूपवती अकेली

□ किरण शंकर मैत्रा

रूपवती अकेली अनंत प्रतीक्षा में ।
अधर में अमृत बांहों में विद्युत
स्तनाग्र में कौंधती अनंत कामना
कोप-दृष्टि, अभय-वर

खिल रहे हैं युगल नयन में ।
रूपवती अकेली अनंत प्रतीक्षा में ।

पदतल में अपेक्षमान उदासीन क्षमा
अमरता आमंत्रण कठिन प्रणय में
निमिष में उन्माद रक्त निस्संग चुम्बन में ।
रूपवती अकेली अनंत प्रतीक्षा में ।

अबोबाहिका में चिरंजन जीवन प्रवाह
रहस्यमय अन्धकार दुर्लभ अरण्य में
निर्जन झरने तले समर्पित शब्द-अंजलि ।
रूपवती अकेली अनंत प्रतीक्षा में ।

तब

तब ज्योत्स्ना के साथ
झील के पानी का संगम देखकर
मैं प्रेमी हवा में मिल जाता हूं ।
कोई चंचल शरारती तारा-सहेली
इधर-उधर आंख मिचौली

ब्यूटी कन्टेस्ट विजयिनी चाँद
जब मुस्कुराता है—
घास के मायावी कार्पेट पर
मैं लोट जाता हूँ
जब अलौकिक रक्तिम आभा
जागती है
नींद टूटने के बाद
अहले सुबह की संजीवनी आयु लेकर
घर लौट आता हूँ
और एक दुर्लभ रात्रि की प्रार्थना में।

□

शाप

□ नरेन्द्र कोहली

सत्यवती व्यास की प्रतीक्षा में थी। जाने से पूर्व वह माँ से मिलने तो आएगा। इतना शिष्टाचार तो निर्मोही तपस्वी भी निभाते हैं।……

व्यास सचमुच आए।

"विदा लेने आया हूँ माँ!"

सत्यवती की आँखों में आँसू आ गए, "ऐसा क्षण कब आएगा पुत्र! जब तुम कहोगे, 'माँ! मैं तुम्हारे पास रहने आया हूँ।"

"ऐसा क्षण कभी नहीं आएगा माँ!"

"तो हम कभी साथ नहीं रहेंगे? हम माँ-बेटे के भाग्य में क्या वियोग ही लिखा है?" सत्यवती का मन बहुत दुःखी था।

"नहीं! ऐसा नहीं है माँ!" व्यास अपने शांत और स्थिर स्वर में बोले, "हमारे एक साथ रहने की पूरी संभावना है; किन्तु हस्तिनापुर के राजप्रासाद में नहीं।"

"तो कहाँ?"

"यमुना-तट के द्वीप में बसे, मुनि कृष्ण द्वैपायन के आश्रम में।"

सत्यवती का मन एकदम हिल्लोलित हो उठा। उसका मन हुआ, कहे, 'यदि उस आश्रम में ही रहना था, तो मैंने अपने तापस को ही क्यों छोड़ा होता…। पुत्र के साथ क्यों, मैं पति के साथ ही आश्रम में रही होती।…'

"तुम्हारा पुत्र अब वयस्क हो गया है माँ!" व्यास बोले, "जैसा भी है, उसका अपना आश्रम है। उस आश्रम में अनेक लोगों का पालन-पोषण होना है।…अतः संबंध कोई भी हो, तुम्हारा पुत्र, किसी राजा का आश्रित होकर नहीं रह सकता।"

सत्यवती के मन के भीतर फिर कोई बोला, "तो पुत्र! तुम्हारी माँ यहाँ महारानी थी। अब राजमाता है। वह किसी की आश्रित होकर क्यों रहे। वह तुम से कम समर्थ नहीं है। वह भी सहस्रों लोगों का पालन-पोषण कर सकती है।" और तापसों के समान नहीं, राजसी ठाट से…।"

पर ये शब्द उसकी जिह्वा पर नहीं आए। बोली, "कुछ क्षण रुको कृष्ण! तुम से कुछ बातें करनी हैं।" सत्यवती ने आसन की ओर संकेत किया, बैठो।"

व्यास बैठ गए।

"सच-सच बताना।" सत्यवती ने आग्रह किया।

"कृष्ण द्वैपायन कभी झूठ नहीं बोलता।"

"टालना भी मत।"

"टालना भी झूठ का ही एक रूप है।"

"अंबिका ने तुम्हारा स्वागत किया?"

"नहीं! वह मुझे देखकर वितृष्णा से भर उठी! उसने अपनी आँखें बन्द कर लीं।"

"तो?"

"तुम्हारे प्रयोजन में उसने बाधा नहीं डाली माँ! तुम्हें पौत्र प्राप्त होगा।"

सत्यवती कुछ देर तक चुपचाप सोचती रही, फिर बोली, "भीष्म से तुम्हारी भेंट हुई?"

"हाँ!"

"उसने तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया?"

"बहुत सौहार्दपूर्ण। अत्यन्त आत्मीय।"

"वह तुम्हें अपना विरोधी तो नहीं मानता?"

"नहीं तो!" व्यास चकित हास के साथ बोले, "हममें विरोध है ही कहाँ!"

"विरोधी न सही प्रतिस्पर्धी माना?"

"हम में प्रतिस्पर्धा भी नहीं है माँ!" व्यास बोले, "हम एक दूसरे को कुछ दे ही सकते हैं। एक-दूसरे को वंचित करने का भाव हमारे मन में नहीं है।"

"अपनी माँ से कुछ छिपाओ मत पुत्र!"

"माता! कभी-कभी, लोक-हित में कुछ बातों पर मौन रह जाना अवश्य पड़ता है; किन्तु झूठ बोलने के अर्थ में छिपाना मेरी प्रकृति में नहीं है।" व्यास ने उठने का उपक्रम किया, "अच्छा! अब चलूँगा।"

"नहीं! नहीं!!" सत्यवती के स्वर में हल्का-सा चीत्कार था "अभी नहीं!"

वेद व्यास के लिए सत्यवती का यह चीत्कार आकस्मिक भी था और पीड़ादायक भी। वे रुक गए, "क्या बात है माँ!"

"मेरे मन में पिछले कई वर्षों से कुछ प्रश्न उथल-पुथल मचा रहे हैं पुत्र!" सत्यवती ने व्यास की ओर देखा, "और मेरी विडंबना यह है कि न तो मैं स्वयं उनका समाधान ढूंढ पाई, और न वे प्रश्न किसी से पूछ पाई।" सत्यवती जैसे साँस लेकर बोली, "चित्रांगद और विचित्र वीर्य अपनी अबोधावस्था में ही संसार छोड़ गए, और कोई मेरा अपना था नहीं। तुम थे तो इतनी दूर···।"

व्यास मुस्कराए, जैसे कोई वृद्ध किसी शिशु की अटपटी बातों पर हँसता है, "ऐसे भी कौन से प्रश्न हैं, जिन्हें मेरी माँ आज तक किसी से पूछ नहीं पाई?"

"तुम मुस्करा रहे हो कृष्ण!" सत्यवती ने कहा "पर जब-जब वे प्रश्न मेरे अपने मन के सम्मुख आए, मुझे अपने-आप से भय लगने लगा।"

व्यास कुछ गंभीर हुए, "वे कैसे प्रश्न हैं मेरी माँ!"

"पुत्र! मेरे प्रति भीष्म की शत्रुता क्या तिरोहित हो गई?" सत्यवती ने धीरे से पूछा, "या क्या कभी वह तिरोहित हो पाएगी?"

व्यास ने माँ की ओर देखा, जैसे अपनी आँखों से कोई तरल पदार्थ माँ की आँखों में उँडेल रहे हों, "माँ ! भीष्म कभी तुम्हारा शत्रु नहीं था।..."

"तो उसने नियोग को अस्वीकार क्यों किया ?" क्या तुम्हें नहीं लगता कि वह नहीं चाहता कि विचित्रवीर्य का उत्तराधिकारी जन्म ले ?"

व्यास हँसे, "तुम बहुत भोली हो माँ ! अपनी आशंकाओं को संसार पर आरोपित कर, उन्हें सत्य मान लेती ही।...भीष्म का यदि विचित्रवीर्य के उत्तराधिकारी से विरोध होता, तो वे मेरा स्वागत क्यों करते ?"

"तो उसने अस्वीकार क्यों किया ?"

"क्योंकि वे अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा करना चाहते थे।"

"चाहे उससे किसी की हानि हो ?" सत्यवती बोली, "जिसकी हानि होगी, वह तो उसे अपना शत्रु मानेगा ही।"

"अपनी हानि और लाभ से शत्रुता और मित्रता को नापना स्वार्थ-जन्य वृत्ति है माँ !" व्यास बोले, "मित्रता भावना से होती है, कर्म से नहीं, और नीति सदा ही शत्रुता और मित्रता से निरपेक्ष होती है।"

"तो भीष्म मेरा शत्रु नहीं है ?"

"नहीं !"

"कब से ?"

"वे कभी तुम्हारे शत्रु नहीं थे !"

"तो मुझे सदा ऐसा क्यों लगता है ?"

"क्योंकि तुम भीष्म की शत्रु हो...।"

सत्यवती की आँखों में विरोध भी था और क्षोभ भी ! यह सब उसका अपना पुत्र कह रहा है। जिस पर उसने सबसे अधिक विश्वास किया...पर कृष्ण द्वैपायन उसका अपना पुत्र है...वह जो कुछ कह रहा है, उसमें कोई तथ्य होना चाहिए...

सत्यवती मन-ही-मन जैसे कुछ उलझ गई, पर साथ ही जैसे बहुत कुछ सुलझ भी गया। पर वह सुलझना उसके लिए कोई सुखद नहीं था। जैसे वह उस सुलझने को अपनी आँखों से ओझल ही रखना चाहती थी, "क्या दोनों एक ही बात नहीं है पुत्र ! कोई मेरा शत्रु है, तो मैं उसकी शत्रु हूँ ; और मैं जिसकी शत्रु हूँ, वह भी मेरा शत्रु है।"

"सामान्य व्यवहार में कदाचित् ऐसा ही होता है माँ !" व्यास बोले, "किन्तु भीष्म जैसे लोगों के संदर्भ में यह सच नहीं है। शत्रुता का विष तुम्हारे मन में था, इसलिए उसका कष्ट तुम ही पा रही थीं माँ ! भीष्म के मन में तुम्हारी शत्रुता का विष कभी प्रतिबिंबित नहीं हुआ। इसलिए भीष्म न कभी तुम्हारे शत्रु बने ; और न कभी उन्होंने तुम से शत्रुता पालने का कष्ट पाया।"

सत्यवती चुपचाप, मुखर आँखों से पुत्र को देखती रही। उसकी स्थिति विचित्र थी। उसकी बुद्धि, कृष्ण द्वैपायन का तर्क स्वीकार कर रही थी, पर उसका मन उस तथ्य को स्वीकार नहीं कर पा रहा था।

"पर पुत्र ! मैं भीष्म की शत्रु क्यों थी ? भीष्म ने मेरा कुछ नहीं छीना था। मैंने भीष्म का राज्य छीना था ; भीष्म को मेरा शत्रु होना ही चाहिए था।"

व्यास मुस्कराए, "तुम यह समझ रही थीं कि तुमने भीष्म का राज्य छीना है, इसलिए तुम्हारे मन में अपराध-बोध था। यही अपराध बोध निरंतर इस आशंका में

बदल रहा था कि भीष्म अपना छिना हुआ राज्य, पुन: प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे । अत: वे तुम्हारे शत्रु बन जाएँगे । तुम अपनी शत्रुता भीष्म के मन में प्रतिबिंबित देख रही थीं ।......"

"पर भीष्म मेरा शत्रु क्यों नहीं था ?" सत्यवती आश्चर्य से बोली, "आखिर मैंने उसका राज्य छीना था ।"

"भीष्म यह नहीं मानते कि उनका राज्य छीना गया ।" व्यास शांत भाव से बोले, "वे यह मानते हैं कि उन्होंने अपना राज्य स्वयं त्याग दिया है ।"

सत्यवती देख रही थी, उसका पुत्र कृष्ण द्वैपायन, भीष्म की चर्चा आदरपूर्वक कर रहा था, "पर उसे राज्य त्यागने के लिए बाध्य किसने किया ?"

"भीष्म मानते हैं कि ग्रहण और त्याग, किसी के बाध्य करने से नहीं, अपनी इच्छा से किया जाता है ।"

"अपनी इच्छा से कोई राज्य क्यों त्यागेगा ?"

"क्योंकि राज्य उनके लिए अनावश्यक था । उन्हें राज्य की आवश्यकता नहीं थी ।" व्यास बोले, "अनावश्यक के त्याग से व्यक्ति हल्का होता है ।"

"क्या वह यह कहता है ?" सत्यवती ने पूछा ; और फिर जैसे उत्तर की आवश्यकता उसे नहीं रही, "यदि वह ऐसा कहता है, तो झूठ बोलता है । ऐसा कौन व्यक्ति है, जिसे राज्य की आवश्यकता नहीं है ?"

"मुझे आवश्यकता नहीं है ।" व्यास मुस्कराए, "क्या तुम्हें मेरा विश्वास नहीं माँ ?"

"तुम पराशर के पुत्र हो ।" सत्यवती ने कहा, "भीष्म शांतनु का बेटा है ।"

"कभी-कभी कोई कृष्ण द्वैपायन, राजा शांतनु के घर भी जन्म ले लेता है ।" व्यास पूरी गंभीरता से बोले, "तुम तो भीष्म के राज्य-त्याग का निमित्त मात्र बनीं माँ ! नहीं तो वे किसी और वजह से यह त्याग कर देते ।...इसीलिए उनके मन में तुम्हारे विरुद्ध कुछ नहीं है । तुम आज तक अपने ही कलुष से जली माँ ! भीष्म ने तुम्हें कभी नहीं तपाया ।"

"मुझे विश्वास नहीं होता पुत्र ।" सत्यवती बोली, "ऐसा त्याग क्या मानव के लिए संभव है ?"

"विवेकी व्यक्तियों के लिए अपने सुख के निमित्त कोई भी त्याग साधारण बात है ।"

"तुम अत्यन्त बुद्धिमान हो पुत्र ! तुम्हारी बात में मुझे संदेह नहीं करना चाहिए ।" सत्यवती बोली, "किंतु मेरा मन आज भी यही कहता है कि ग्रहण का नाम सुख है; और त्याग का दु:ख । अर्जन से लोग सुखी होते हैं, विसर्जन में दु:ख ही दु:ख है । ...राज्य-त्याग से भीष्म को दु:खी ही होना चाहिए था ।"

व्यास माँ को देखते रहे, जैसे कोई युक्ति सोच रहे हों, जो माँ की समझ में आ सके ।...सहसा उन्होंने पूछा, "अपने विवाह से पहले, जब तुम अपने बाबा के घर में थीं माँ ! तो क्या तुम सुखी थीं ?"

"हाँ पुत्र ! तब मैं अत्यन्त सुखी थी ।"

"तब तुम्हारे पास प्रासाद नहीं थे; रथ नहीं थे; दास-दासियाँ नहीं थीं, स्वर्ण नहीं

थीं; मणि-माणिक्य नहीं थे; सत्ता और शासन नहीं था; सेना और महारथी नहीं थे । तो भी तुम सुखी थीं माँ ?"

"हां पुत्र ! तब भी मैं सुखी थी ।"

"और जब तुम कुरु साम्राज्य की महारानी बन कर हस्तिनापुर आईं, तो तुम सुखी थीं मां ?"

सत्यवती ने तत्काल उत्तर नहीं दिया । वह कुछ सोचती रही ।

"भली प्रकार सोच लो ।"

"मुझे लगता है कि मैं हस्तिनापुर में एक दिन भी सुखी नहीं रही ।" सत्यवती बोली, "वंचित और अपमानित होने का भय । विरोध, अनिष्ट और शत्रुता के भाव···।"

"तब तुम महारानी थीं । कुरु-साम्राज्य तुम्हारा था । तुम्हारे एक संकेत पर सहस्रों लोगों के रुंड से मुंड अलग हो सकते थे; राजा कंगाल हो सकते थे, पथ के भिखारी किरीटधारी हो सकते थे···। तब भी तुम सुखी नहीं थी माँ ?"

"नहीं पुत्र ! तब भी मैं सुखी नहीं थी ।"

"तो माँ ! मन में धारण करो कि धन, सत्ता और शक्ति में सुख नहीं है ।"

"तो लोग धन, सत्ता और शक्ति क्यों चाहते हैं पुत्र ?"

"वह एक मद है, जो रक्त को उफनाता है । उससे उत्तेजना का अनुभव होता है । वह सुख नहीं है । सुख का भ्रम उससे अवश्य उत्पन्न होता है । उत्तेजना अपने-आप में कष्ट है । उसके अवसान की आशंका भय है ।···और उसका अवसान पीड़ा है ।"

"तो मुझे सुख कैसे मिलेगा पुत्र ?"

"तुम हस्तिनापुर न आतीं, पराशर की कुटिया में जातीं, तो ही सुखी होतीं । "व्यास मुस्कराए," अब तुम मेरे साथ चलो । इस उत्तेजना से दूर चल, अपने स्नायु-तंत्र को कुछ शांति दो ।"

"पर यह सब छोड़ा भी तो नहीं जाता पुत्र !"

"कोई मद सुविधा से नहीं छोड़ा जाता ।" व्यास बोले, "यह बंधन इतनी सुविधा से तोड़ा जाता, तो प्रत्येक व्यक्ति तोड़ देता ।"

"तुम ठीक कहते हो पुत्र ।" सत्यवती ने हस्तिनापुर पर दृष्टि डाली," मेरे पौत्र-प्रपौत्र···उनका पालन-पोषण, उनकी रक्षा, उनका राज्य, उनका धन···किसे सौंप दूं यह सब ?"

"भीष्म को ।"

"भीष्म को ही सौंपना होता, तो उससे छीनती क्यों पुत्र ?"

"तो तुम्हारे मोह के बंधन टूटने का समय अभी नहीं आया माँ ।" व्यास बोले, "कुछ और वंचित हो लो, कुछ और यातनाएँ सह लो···।"

"मैं बंधनों की नहीं, सुख की बात कर रही हूँ पुत्र !"

"बद्ध जीव कभी सुखी नहीं हो सकता माँ ।" व्यास मुस्कराए, "जब तक तुम अपने बंधनों को पहचानोगी नहीं, उन्हें अपने दुःखों का कारण नहीं मानोगी, उन्हें तोड़ने का संकल्प नहीं करोगी—तब तक भीष्म तुम्हें अपने शत्रु दिखाई पड़ेंगे । और तुम सुखी नहीं हो सकोगी माँ !"

"पुत्र ! अपनी माँ को शाप मत दो ।"

"यह शाप नहीं, मात्र तथ्य-कथन है मेरी माँ ।"

(अप्रकाशित उपन्यास 'दर्प' का एक अंश)

□

'काला इश्तहार'

□ सुजाता

नरमुंडों की माला पहने
दानव की विकराल होती भुजायें,
विराट देहाकृत्ति;
शाँति और अमन से ज्योति रहित
अन्धे नेत्र
और प्रलंयकारी गर्जना
कहाँ-कहाँ
कैसे-कैसे
किस-किस रूप में गूँज रही है ।
बापू के तीन बन्दर
अब हर गली, बस्ती,
गाँव, शहर में
सरेआम घूमने लगे हैं,
घूमते-घुमाते वे पहुँचते हैं
कोप-भवन में
जहाँ ऊँची दुकान फीका पकवान,
फिर किसी धर्मस्थल पर
जहाँ मुँह में राम-राम
बगल में छुरी,
किसी नेता के गरीबखाने

पहुँच कर क्या देखते हैं,
बुलेट प्रूफ खद्दरधारी नेता जी
गश्त कर रहे हैं।
उनके हृदय में अपार जन-सम्वेदना
उमड़-उमड़ रही है,
उनका मात्र एक विश्वास है
'दया की शुरुआत घर ही से होती है।'
वे देखते हैं किसी चौराहे पर
लटकता हुआ गाँधी का बुत,
जो अचानक प्रेमचन्द के होरी में
तबदील हो जाता है,
होरी की आत्मा मंझधार में झूल रही है,
यह प्रगति का तकाज़ा है
कि उसके एक पाँव में
विलायती जूता पहना दिया गया है,
दूसरा पाँव छलनी हुआ
घिसटते-घिसटते
देश की बेबसी पर
चार आँसू बहा रहा है।

□

पुस्तक समीक्षा

'महासागर'—सहज अनुभवों की उपलब्धि

☐ डा० क्षमा गोस्वामी

कथाकार की प्रेरणा शिल्प के कौशल से नहीं, वरन् जीवित अनुभवों की गहराई से शक्ति पाती है। आस-पास के वातावरण के साथ गहरी आत्मीयता और तादात्म्य ही किसी लेखक की रचना-धर्मिता का वास्तविक आधार है। इस आधार बिन्दु से प्रेरित रचनायें अनेक उन दोषों से सदैव मुक्त रहती हैं—जहाँ लेखक एक प्रकार की निश्चित लेखकीय दृष्टि से, एक निश्चित मुखौटा, अपने हर अनुभवों को पूरा होने से पूर्व ही जड़ देने के लिये तत्पर रहता है। इन रचनाओं में मूल कमी ही यह रहती है कि ये प्रायः मौलिक न होकर, थोड़े बहुत अन्तर के साथ किसी न किसी पूर्व संदर्भों की पुनरावृत्ति बनकर रह जाती है। जिस लेखन प्रक्रिया में जीवन के माध्यम से लेखन की तलाश की जाती है, वह सदैव किसी न किसी स्तर पर नवीन और मौलिक बना रहता है। कारण हर क्षण किसी न किसी प्रकार के जीवित होने/अथवा जीवन/का पर्याय है, और अनुभवों के मूल्यवान जीवन्तता के ये क्षण एक दूसरे से अलग होते हैं, इसीलिये इस प्रकार की लेखन प्रक्रिया में आने वाला लेखन, उसकी हर रचना एक दूसरे से भिन्न कुछ नवीनता लिये होती है।

कथा शिल्पी हिमाँशु जोशी इसी प्रकार की लेखन प्रक्रिया के लेखक हैं। उनकी रचनायें किसी न किसी स्तर पर पाठकों को कुछ नया देती हुई, उन्हें समाज के विभिन्न प्रसंगों और धरातलों से जोड़ सकी है। 'महासागर' का कथानक भी नितान्त एक नये संसार को लेकर प्रस्तुत हुआ है। उपन्यास के मूल में उन लोगों की दर्द भरी कहानी है, जो नियति द्वारा अलग-अलग स्वनिर्मित द्वीपों में निर्वासित होने के लिये विवश हैं। उपन्यास की सबसे मार्मिक पीड़ा मानव संवेदनाओं में जुड़ने वाली वह वेदना है, जो उसे किसी प्रकार के समायोजन के संकट से त्रस्त करती है। किसी भी नये समाज में नवागंतुक समायोजन का कितना भी प्रयास करे, पर यदि कहीं किसी स्तर पर जब उसकी भावनायें विघटित होने लगती हैं, तो उससे अपने समाज की गृह-पीड़ा, अंतरंग वातावरण की छटपटाहट दबाये नहीं दबती। नीकोबार आदिवासिनी नीना का साकेत की पत्नी बनकर

दिल्ली आना और फिर एक दिन घोर बीमारी की हालत में अपने परम्परागत समाज की छटपटाहट को लेकर भाग जाना, वहाँ प्राण त्याग देना, ये प्रसंग उपन्यास को मानवीय संवेदनाओं के आधुनिक सदर्भों से जोड़ता है। नीकोबार छोड़ने के बाद नीना ने साकेत के नगर, समाज और परिवार में घुल-मिल जाने के लिये पूरा प्रयास किया था। पिछले संस्कारों को तिलांजलि देते हुये इस प्रयास के लिये वह बराबर उत्साहित रहती थी। देखा जाये तो उसके अन्दर से उसका परम्परागत समाज पूरी तरह छूटा नहीं है वह तो उसके अन्तःकरण में समाया हुआ है। ऐसे प्रयासों और प्रोत्साहन के पीछे मूल बात साकेत और उससे मिलने वाली भावनायें ही थीं। इन भावनाओं का ही आच्छादन उसकी पूर्व भावनाओं पर पड़ा था। जिस दिन इन भावनाओं का पर्दा टूटता है नीना एक सूखे जल प्रवाह में तड़पती मछली की तरह बेचैन रहने लगती है। नीना ने एक-दिन देखा था कि दूर कार पार्क वाले चौराहे के पास दूब पर एक पुरुष और औरत की छाया पास-पास खड़ी हैं। नीना को यह विश्वास हो गया था कि पुरुष की छाया और किसी की नहीं, उसके ही साकेत की है। भावनाओं की यह चोट वह बर्दाश्त नहीं कर सकी। नये समाज का मोहभंग पूरे उद्धृत रूप में शुरू हुआ। अब नीना का कहीं किसी प्रकार मन नहीं लगता है। पढ़ती है तो मन नहीं लगता। चार छह अक्षर पढ़कर पुस्तकें परे पटक देती है।···पूर्णमासी की रात—सारी रात वह छत्त पर बैठी-बैठी बिता देती है। चारों ओर उसे समुद्र-सा फैला दीखता है। ज्वार भाटा की जैसी बड़ी-बड़ी लहरें आसमान को छूती···सुबह भोर से पहले वह फिर छत्त पर खड़ी हो जाती है। उसे लगता है मांझियों के लौटने का समय हो गया है। जब कभी साकेत घर में आता है। मछली की जैसी दुर्गन्ध उसे चारों ओर महसूस होती है।···घर में नीना अकसर नीकोबारी वेश में रहने लगती है। जाल लिये, पतवार चलाते नाविकों के चित्र चारों ओर बिखरे रहते हैं। नावें ही नावें, नारियल ही नारियल···।

नीना के अन्दर परम्परागत समाज की पीड़ा गहराती जाती है, और उसकी वेदना में एक अजीब मनःविक्षप्ति के साथ वह घोर रोग का शिकार हो जाती है। उसे भुवाली सेनीटोरियम में भर्ती होना पड़ता है। वहीं से एक दिन बीमारी की हालत में वह नीकोबार भाग जाती है और वहाँ अपने शिशु को जन्मने के बाद मृत्यु को प्राप्त होती है। साकेत उसे ढूंढने जाता है पर अन्त में उसे मिलती हैं उसकी घास के नीचे दबी बिखरी कुछ हड्डियां। वह अपने बच्चे को लेकर पुनः लौट आता है। पर नीना के वियोग को स्वयं न सह सकने के कारण एक दिन वह उसी के देश नीकोबार भाग जाता है। सम्भवतः वह अपनी शेष जिन्दगी उसी जगह बिता देना चाहता है।

इस मूल कथा को समेटे हुये पूरा उपन्यास दो भिन्न आयामों को साथ-साथ लेकर चलता है। इसके एक आयाम का सीधा सम्बन्ध एक विशिष्ट समाज और वर्ग की समस्याओं से है। और उसका दूसरा आयाम व्यक्तित्व की आन्तरिक गहराई में स्थित है। पहले आयाम को लेकर लेखक अण्डेमान तथा नीकोबार के मजदूरों, मछुआरा जीवन के दैनिक संघर्ष, अभावों और शोषण आदि को गहराई से आंकता चलता है। वहीं दूसरे आयाम को लेकर वह अपनी तरह के पात्र, साकेत, दीपदी, छाया, नीना जैसे पात्रों का परिचय कराता है। कथा-शिल्पी की रचना-धर्मिता के लिये ये दोनों आयाम आवश्यक अंग हैं। पर कथा-शिल्प की पूरी सफलता इनमें बर्ती गई उचित समन्वय के कौशल पर निर्भर है। इस कौशल के अभाव में कई बार उपन्यास का कथानक सतही बनकर

ही रह जाता है। महासागर में इस समन्वय को बरता गया है। और इस प्रयास में सबसे महत्वपूर्ण बात यह रही है कि मजदूरों अथवा मछुआरों के संघर्ष का चित्रण करते समय लेखक क्रांति, निर्माण, पुनर्निर्माण अथवा नई सामाजिक व्यवस्था के लिये किन्हीं किताबी की दुनिया में न भटक कर, उसे आदमी के संघर्ष और उनकी चारित्रिक जुझारुता के साथ प्रस्तुत कर सका है। जो स्वयं में अधिक प्रभावमय लगता है।

यही बात पात्रों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। उपन्यास के सभी पात्र अपने में पूरे हैं। उनमें दूसरों को प्रभावित करने की पूरी क्षमता है। 'साकेत' के माध्यम से आदर्शोन्मुख मध्यवर्गीय नैतिकता गहराई से आंकती हुई मन को प्रभावित करती है। भले ही उसके पूरे चरित्र को लेकर अपनी-अपनी दृष्टि से कई प्रश्न चिन्ह क्यों न लगाये जा सकते हों। 'दीपदी' का संघर्षरत जीवन बहुत देर तक भूलता नहीं। और नीकोबार की आदिवासी नीना का भोला-सहज व्यक्तित्व तो मन में पूरी तरह छा जाता है।

पात्रों में पूर्णता के इस कसाव का कारण भी लेखक की रचना प्रक्रिया में ढूंढा जा सकता है। ज़िन्दगी नाम के अमूर्त्तन को साहित्य में मूर्त्तिमान करने की प्रक्रिया का अर्थ लेखक के अपने आसपास चरित्रों को जीवन की साकार प्रक्रिया में पकड़ पाना ही तो है। यहाँ ज़िन्दगी ठोस घटनाओं और परिस्थितियों के विशिष्ट चेहरों के बीच के अनुभवों से ही बनती बिगड़ती चलती है। स्थिति तो यह होती है कि लेखक की संवेदनायें ऐसे यथार्थ का एक बार साक्षात्कार करने के बाद उसी में ही गहराती जाती हैं। और इस तरह संवेदनात्मक एकतानता को सच्चाई देती हुई, ऐसी स्थिति प्रकट होती है कि उसमें लेखक स्वयं और पात्रों में अन्तर कर पाने में असमर्थ रहता है। उसे लगता है कहीं न कहीं वह स्वयं भी इन पात्रों में से है। पात्रों के प्रति यह तादात्म्य होना, लेखक की सबसे बड़ी सफलता है। 'महासागर' इसी तादात्म्य का एक उदाहरण है।

संवेदनाओं के इस तादात्म्य के कारण ही महासागर में न ही कहीं खण्ड चित्रों का अकारण विस्तार आ सका है, और न ही इतिवृतात्मकता का मोह। यह स्थिति स्वयं ही उपन्यास के शिल्प की एक कसौटी बन सकी है। कुल (१५५) पृष्ठ का 'महासागर' का आकार देखने में छोटा अवश्य है पर उसकी देह पूरे कसाव के साथ गहरी और ठोस है।

कुल मिलाकर 'महासागर' एक पठनीय कृति है।

□

['महासागर' (उपन्यास) लेखक—हिमांशु जोशी, पृष्ठ १५६ मूल्य ३५ रुपये। प्रकाशक—वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली]

पुस्तक समीक्षा

खुशबू बन के लौटेंगे : इतिहास-दर्शन और साहित्य का संगम

□ डॉ० सुखवीर सिंह

"खुशबू बन के लौटेंगे" एक ऐसी पुस्तक का शीर्षक है, जिसे लघु उपन्यास, लम्बी कविता, छिटपुट डायरी या इसी प्रकार की किसी भी विधा के प्रचलित अर्थ में लिया जा सकता है, किंतु इसके लेखक देवेन्द्र इस्सर के अनुसार "यह है जीवन को जी के देखने-परखने का अपना निजी नज़रिया और रवैया ! एक फ्री आटो राइटिंग अंदाज में । (प्रश्न यह था) इस पुस्तक में मनोविज्ञान, काम विज्ञान, नारी-पुरुष सम्बन्ध, सौन्दर्यशास्त्र, साहित्य, आलोचना, इतिहास और आत्म-कथा सभी कुछ एक साथ प्रस्तुत कर दिया गया है । सभी एक दूसरे में गड्डमड्ड और अलग-अलग भी ।

सबसे पहले आतमकथा के अंश लें क्योंकि लेखक ने इसे "फ्री आटो राइटिंग" कहा है । इसमें तरतीबवार आत्मकथा लिखने के परम्परागत प्रणाली से अलग हटकर एक अलग अन्दाज से आतमकथा को पूरी पुस्तक में इस तरह से बिखेर दिया गया है, जैसे कोई किसान क्यारी-क्यारी बीज न डालकर वैसे ही छिटक दे । फिर भी आतमकथा के जो अंश इस किताब में उपलब्ध हैं, उन्हें जोड़कर जो देवेन्द्र इस्सर के जीवन का बाह्य ढांचा बनता है, वह निम्नलिखित है : लेखक का जन्म १४ अगस्त १९२८ को पंजा साहिब में हुआ था, यद्यपि मैं लिखता कैम्बलपुर हूं जो पंजा साहिब से २५-३० मील दूर है और जहां मेरी परवरिश हुई थी । (पृ० ८१) पांच वर्ष की आयु में माँ छोड़कर स्वर्ग सिधार गई किन्तु मां के साथ लगाव निरंतर बना रहा । पन्द्रह वर्ष की आयु में "किसी ने अपने शरीर द्वारा" इन्हें इनके "शरीर की चेतना दी । उस अहसास का वर्णन करते हुए लेखक ने कहा है—मेरी उंगलियों ने पहली बार आंच महसूस की थी । आंच इतनी शीतल और राहतबख्श भी हो सकती है—मुझे मालूम नहीं था । (पृ० १४) कैम्बलपुर में दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर जनाब मुहम्मद अजमल ने कहानी-लेखन के लिए प्रोत्साहन दिया । पेशावर रेडियो से कहानी प्रसारित करवाई । "निसवानी दुनिया" में छपवाई । "साक़ी" जैसी प्रसिद्ध पत्रिका में कहानी भिजवाई । डॉ० गुलाम जीलानी वर्क ने आलोचना-सिद्धान्त की समीक्षा दी और "मण्टो : एक सामाजिक जर्राह" नाम के लेख को देखकर यह भविष्यवाणी की कि "मैं पेशीनगोई करता हूं कि इस नौजवान का शुमार हिन्दुस्तान के सफे अव्वल के

अदीबों में होगा।" (पृ० ५७) यह लेखक युवावस्था से ही प्रगतिशील आन्दोलन से जुड़ा रहा—कलम और कार्य दोनों ही स्तरों पर। किंतु भारत-विभाजन का दर्द अन्य साधारण लोगों की तरह इस लेखक को उठाना पड़ा—अन्य से शायद कुछ अधिक ही। भारत-विभाजन के बाद अपना वतन (अब पाकिस्तान) को छोड़कर जब लेखक भारत आया तो उसके पास बी० ए० की डिग्री का प्रमाण पत्र न होने के कारण उसे आगे पढ़ाई के लिए युनिवर्सिटी में प्रवेश नहीं मिल पा रहा था। उस समय की अपनी मनःस्थिति को व्यक्त करते हुए लेखक कहता है—"हां, कुछ भी नहीं था मेरे पास। न कागज़, न पत्र, न प्रमाण, न कोई गवाह। न नाम, न घर, न देश। मेरा नाम, मेरा चेहरा, सब कुछ रेखा के उस पार रह गया था, जो कागज़ पर खिंची, भूमि पर उतरी और दिल को चीरती हुई निकल गई। विभाजन का निर्णय उन लोगों ने लिया था, पंजाब जिनका वतन नहीं था। उनका नाम था। घर था। देश था। पहचान थी। क्योंकि देश विदेश की पत्र-पत्रिकाओं में उनके नाम, उनके भाषण उनके चित्र छपते थे। पहचान क्यों न होती। हमने वायस रीगल लॉज में लार्ड और लेडी माऊंटबेटन के साथ भोज नहीं लिया था। उनके साथ हमारी कोई तस्वीर नहीं छपी थी। उनके पास अखबारों के पुलन्दे थे। और मेरे पास कागज़ का टुकड़ा भी नहीं। पहचान कैसे होती? (पृ० ३०) और यह आश्चर्यजनक रूप से सत्य है कि देश का विभाजन उन लोगों ने कराया, जिनका वाकई पंजाब या बंगाल से कोई सम्बन्ध नहीं था। पख्तून नेता खान अब्दुल गफ्फार खां ने आखिरी पल तक देश के विभाजन का विरोध किया था किंतु उनकी किसी ने भी सुनी नहीं।

आत्मकथा के अंशों के साथ-साथ काम विज्ञान तथा नारी पुरुष के सम्बन्धों पर भी काफी विस्तार से चर्चा की गई है। लेखक की दिलचस्पी "शरीर में कम रूह में अधिक है। लेकिन समस्या यह है कि रूह का रास्ता शरीर से होकर गुजरता है। ......जो शरीर के दमन से दिल की दुनिया में दाखिल होते हैं, वे ऋषि बन जाते हैं जो दिल की अवहेलना करके बिस्तर-ब-बिस्तर विचरते हैं संवेदन शून्य।" (पृ० १९) यह धारणा है शरीर और दिल के रिश्ते की। कामेच्छा की तृप्ति के लिए "शरीर का नग्न होना या करना कोई दुष्कर कार्य नहीं है। हम एक दूसरे से अपने शरीर शेयर कर सकते हैं, लेकिन फेंटेसी नहीं। स्वप्न, भय, जुनून, कामना। हम डरते शरीर से नहीं, डरते दिल से हैं।" (पृ० १७)

तो फिर स्त्री-पुरुष का रिश्ता क्या है? लेखक के अनुसार "स्त्री-पुरुष का रिश्ता काम विहीन भी हो सकता है और कामपूर्ण भी। लेकिन मेरे विचार से स्त्री-पुरुष की दोस्ती में भी यौन का कुछ न कुछ अंश, कोई न कोई रूप अवश्य होता है। शायद वह पर्सनल होता है।" (पृ० १७)

आर्गेज्म, नारी-पुरुष सम्बन्धों की चरम परिणति नहीं है। लेखक के अनुसार "नारी के पास कई अंग हैं काम वेग के हर वार से बेदार होने के लिए और उसे जज्ब कर लेने के लिए। पुरुष के पास तो एक ही अंग है और वह भी कौन-सा विश्वसनीय है। कामेच्छा नारी शक्ति का स्रोत है। वह पुरुष को यौन अभितृप्ति प्रदान कर सकती है। कामेच्छा की पूर्ति के लिए पुरुष के लिए आत्मरति और संभोग में मूलतः कोई भेद नहीं है। लेकिन नारी के लिए आत्मरति और संभोग में गहरा अंतर है। × × × पुरुष की सीमाएं हैं गति सीमित है। जब भी चरम बिन्दु पर पहुंचता है, सिमट जाता है। नारी आल एम्ब्रेसिंग मल्टीपल आर्गेज्म में सक्षम है।" (पृ० ६०)

इसी सिलसिले में लेखक ने नारी-मुक्ति आन्दोलन पर भी विचार कर लिया है। उसका प्रश्न है—"आखिर यह तुम्हारा नारी-मुक्ति आन्दोलन" का शोर शराबा है क्या ? यदि उद्देश्य स्वतंत्रता आत्म-निर्भरता, समता, स्वाभिमान और अपनी आइडेन्टिटी का ही होता तो अंगिया-चोली न जलाई जाती। तुम पुरुष बनना चाहती हो। जो कुछ तुम कर रही हो वह एक प्रकार से मैस्क्युलिन प्रोटेस्ट है।" वह और प्रश्न करता है—"तुम्हें अपने स्तन भारी क्यों लगते हैं ? योनि एक अन्धकारमय गुफा क्यों नज़र आती है ? गर्भाशय से तुम मुक्त क्यों होना चाहती हो।" (पृ० ६१) फिर वह स्वयं ही उत्तर देता है—"तुम अपने शरीर की सुरक्षा के लिए लड़ते-लड़ते अपने शरीर के विरुद्ध लड़ने लगी हो। जब पुरुष तुम्हें नारी समझता है तो तुम प्रोटेस्ट करती हो और जब तुम्हें नारी नहीं समझता है तो आफेन्स महसूस करती हो।" (पृ० ६१)

लेखक मूलतः कहानीकार है इसलिए आत्मकथा, काम विज्ञान, नारी-मुक्ति-आंदोलन आदि विषयों के साथ ही साथ साहित्य और आलोचना-सिद्धान्तों पर भी उसने अपने विचार दिए हैं। उसके अनुसार "साहित्य सृजन नहीं सब दर्शन है।" (पृ० ३३) और आलोचना—"आलोचक का काम है कि वह पाठक को यह बोध कराए कि वह यह किताब नहीं जो उसने पढ़ी हैं। बल्कि यह कोई दूसरी किताब है।" (पृ० ५८)

अपनी "भाषा" के बारे में लेखक का स्पष्टीकरण है—"पहले उर्दू में लिखना शुरू किया और बाद में हिन्दी में। पंजाबी मेरी मातृभाषा है और रोजी अंग्रेज़ी से कमाता हूं। और सब गड़बड़ हो गया।" (पृ० ५१) यह भाषा-वैविध्य लेखक की रचनाओं में स्पष्टतः देखा जा सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने दो स्थानों पर बड़ी ज़ोरदार फैन्टेसी बुनी है। (पृ० ३५ और पृ० ८४ पर) उसने स्वीकार किया है कि वह "कैन्सर" का मरीज़ है। (पृ० ९) आत्महत्या उसे पसन्द नहीं। (पृ० २६) किन्तु मृत्यु का कारण वह अपनी शर्त पर ही करना चाहता है। ऐसा वरण, जिससे मृत्यु भी शर्मसार हो जाए। वह घोषणा करता है--"जब मुझे मरना होगा मैं एक रेंटल कार लूंगा। उसकी टंकी में पैट्रोल लबालब भर लूंगा और नेशनल हाईवे पर निकल पड़ूंगा। फलड लाइट की चुंधियाती रोशनी में किसी एक फूल का नाम लेकर (और उसका चेहरा याद करके) किसी चट्टान से टकरा जाऊंगा। मेरा शरीर और चेहरा कट-फट जाएगा। गर्म और सुर्ख़ खून कार के चमकते शीशों, सख्त चट्टानों और भूरी मिट्टी पर बहने लगेगा। और मैं अपनी जबान की नोक से उसे चखूंगा कि उसमें वह हरारत है कि नहीं जिसकी तमन्ना मैंने ज़िन्दगी भर की हैं।" (पृ० २६-२७)

वस्तुतः प्रस्तुत पुस्तक एक ऐसे व्यक्ति के द्वारा लिखी गई है, जिसने ज़िन्दगी को बहुत से नज़रियों से जिया है, भोगा है और ढेर सारी किताबों का अध्ययन किया है। इसके प्रमाण स्वरूप दर्शन, साहित्य, यौन-शरीर-दिल आदि से सम्बद्ध ज्ञान तथा नारी-मुक्ति आन्दोलन, के सिलसिले में प्रस्तुत उद्धरण हैं। भारत के गत चालीस वर्षों के इतिहास को और उसके छद्म में उत्पन्न पीड़ा को भी —लेखक ने बहुत समीप से देखा है, इसलिए इस पुस्तक में उसका बेबाक वर्णन मिलता है। इस छोटी-सी पुस्तक (मात्र ९० पृष्ठ) में लेखक ने ज्ञान और अनुभव को जिस तरह ठूंस-ठूंस कर भरा है, वैसा बहुत कम पुस्तकों में देखने को मिलता है। इसमें निश्चय ही इतिहास, दर्शन और साहित्य का अनूठा संगम हुआ है। □

'खुश्बू बन के लौटेंगे' (गद्य) लेखक—देवेन्द्र इस्सर। प्रथम संस्करण—१९८६, मूल्य : २० रुपये। अनन्य प्रकाशन, नई दिल्ली।

पुस्तक समीक्षा

अरण्या

□ डा० प्रियतम कृष्ण

सर्वविदित है कि—भारत की श्रेष्ठतम कृतियों की रचना चाहे वह वेद हों या उपनिषिद—अरण्यों में ही हुई। ऋषिकुल और गुरुकुल के रूप में अरण्यों में ही विद्या के केन्द्रों का विकास हुआ। आदि महाकाव्य की रचना भी अरण्यों जैसे वातावरण में हुई। इन सभी ग्रन्थों में से यदि किसी ग्रन्थ का नाम अरण्या होता, तो यह अधिक तर्क संगत होता।

पर इसे एक और विडम्बना ही समझिए कि २०वीं शती के अतिशय भौतिक युग में, नरेश मेहता सरीखे एक लेखक ने, अरण्यों से दूर, शहर की तड़क भड़क में ही, प्राचीन ऋषि परम्परा की मानसिकता से ओतप्रोत होकर, परन्तु चिन्तन की एक नई परम्परा में, अपने विचारों को एक काव्यमंच रूप देकर—अरण्या—नाम से प्रकाशित किया है। श्री नरेश की अरण्या कितनी वैदिक, कितनी दार्शनिक, और कितनी काव्यमय, और इस सब के होते हुए भी कितनी आधुनिक है यह देखते ही बनता है।

श्री नरेश मेहता की यह नवीन काव्य रचना, कवि और काव्य की सारगर्भित परन्तु प्रतीकात्मक रचना है। एक ऐसी विवेचना जिसमें जीवन का यथार्थ भी है, काव्य का रस भी, और मानवीय उलझनों की विवेचना भी, पर कहीं भी न तो हृदय और न मस्तिष्क एक दूसरे के आड़े आता है।

अरण्या वस्तुत: काव्य का काव्यमय विवेचन है। कब जन्मा था काव्य ? कब फूटी थी कविता ? कैसे हुआ था सभ्यता का विकास ?

किस के पास है
उस दिन की स्मृति
× × ×
कौन उपस्थित था

क्या होता है काव्य ? कैसे बनती और जन्म लेती है कविता ? कैसे बहती है काव्य सरिता ? नरेश के अनुसार आकुल मन की सहज अभिव्यक्ति है । नरेश का कहना है शब्द कविता नहीं अर्थ भी कविता नहीं; कविता है अनुभव । कविता शब्द का उल्लंघन भी है और भाषा की अवांछित उपस्थिति भी ।

"शब्द पर जाकर खड़े मत रहो ।
शब्द का उल्लंघन ही कविता है ।"

अनुभव जब आकुल हो उठता है तो भाषा ढूंढ लाता है । आकुलता एकांत में जन्म लेती है और सार्वजनिक अवसरों पर दुबक जाती है । इस आकुलता का प्रस्फुटन ही काव्य है । एकान्त मन की आकुलता का यह शाब्दिक प्रस्फुटन जिस तेज को वहन करता है उसमें समस्त सृष्टि चैतन्य दिखने लगती है ।

"पहले जहां फूल होता था
वहां दृष्टि जाती थी
पर अब जहां जहां दृष्टि जाती है
नहीं फूल खिलता है......" (सम्पदा)

नरेश के अनुसार कविता का आविर्भाव रूप, रंग, गंध, स्वाद की अनुभूति, जहां तहां के भटकाव और स्मृति के विस्तृत आकाश से संचित कुछ पलों से होता है ।

"न जाने कहां कहां
किन किन रूपों में
भटकना होता है
और तब जाकर अभिहित होती है
एक कविता ।" (आविर्भाव)

तो क्या कविता का वास्तविक आधार जीवन है ? निश्चय ही, पर वह जीवन जो विराटता के भय से मुक्त हो जाए, और किसी भी सार्थक विलय के लिए अपने ही अस्तित्व को अपनी केंचुली समझ उतार फैंकने को तत्पर न हो, क्योंकि अपने अस्तित्व का बोध और विराट में विलय की उपयुक्तता एक दूसरे के पूरक होकर ही जीवन को उद्देश्यपूर्ण बनाते हैं ।

"विराट और व्यक्ति के बीच
नाम ही सब से बड़ी असुविधा है ।"

ऐसी कविता ही उस ज्योति को जन्म देती है । जहां भी दृष्टि जाती है वहीं फूल दिखते हैं । कविता "स्व" को विराट बना ज़रूर देती है, पर यह "स्व" जनमानस का "स्व नहीं यह व्यक्ति की विशिष्टता है क्योंकि—

"सब का अपना अपना वृक्षत्व होता है ।"

और व्यक्ति की यही विशिष्टता काव्य के रूप में प्रस्फुटित होती है :—

"यह सब रोज़ रोज़ का छोटा-छोटा दर्द बन कर
तपाता है
पर कभी तपस्या नहीं बनाता
इसीलिए काव्य
निरन्तर उपस्थित होने पर भी
रोज कविता नहीं बनता"......(रोज़ रोज़)

हर काव्य की कुछ न कुछ विशिष्टता होती है ।

नरेश के विचार में विराट, अहमन्यता से युक्त कोई तत्व नहीं, अपितु उस में विनम्रता का ही भाव है और इसीलिए विराट और व्यक्ति में कोई विरोध भी नहीं। वायु की उपस्थिति में विराटता है, पर नरेश द्वारा परख करने पर हवा तो कविता निकली, क्योंकि हवा विराट होने पर भी हर व्यक्तित्व में विनम्र भाव से चल रही है।

इस प्रकार व्यक्ति और विराट में सम्बन्ध है। व्यक्ति और समष्टि में भी सम्बन्ध है, और काव्य व्यष्टि और समष्टि का, पुरुष और प्रकृति का तादात्म्य होता है क्योंकि वहां आकाश ही नहीं फूल भी रोता देखा गया है।

काव्य, प्रकाश की तरह, प्रकृति को हमेशा ऊर्ध्वाकुल बनाता है पर नरेश का प्रश्न है कि क्या मनुष्य प्रकृति होने में कुछ भी योगदान करेगा ?

"किस अदम्य विपासा में
यह काव्य—प्रकाश—पिपीलिका दुर्वाएं
ऊर्ध्वाकुल रहती है ?
मेरी इस जिज्ञासा पर
करुणार्द हो एक दुर्वा ने कहा
× × ×
हमारा यह प्रकृति हो जाना कृतार्थ हो जाता है
पर क्या मनुष्य इस में कुछ भी योगदान नहीं करेगा।" (योगदान ३१)

कवि प्रकृति का अंश हो तभी कृतार्थ हो सकता है जब वह आदिम अंधेरों में प्रकाश पिपिलिकाएं बन आयुजित जड़ों से होड़ ले और दुर्वाओं की तरह सदा ऊर्ध्वाकुल हो।

कविता आकाश में दिन भर चरने वाली वह कपिला गाय है जो अपने थान और बछड़े के लिए अकुलाती चल रही होती है। वह आकाश से धरती पर उतरती है।

कविता भाग्य भी है और जननी भी ! कवि के लिए भोग्या और पाठक के लिए जननी।

नरेश का कहना है कि कवि ही वह धीमान हो सकता है जो समग्र सृष्टि को मुक्त और अमरत्व प्रदान करने की क्षमता रखता है। इसकी भव्यता कुछ ऐसी है कि होता वह दूर आकाश में है पर उसकी छवि निकटतम धरती पर प्रतिफलित होती है।

"भव्यता की यही प्रकृति होती है।
कि होती वह सुदूर आकाश में है
पर प्रतिफलित निकटतम पृथ्वी पर होती है।"
(साम्राज्ञी का आगमन—पृ० २८)

"जो कवि की भान्ति
अपने विषपायी कंठ से सदाशिव हो
और ऋषि की भान्ति सूर्य पी रहा हो
कौन है ऐसा धीमान ?"
(धीमान—पृ० २७)

पर यह भी एक विसंगति है कि कवि ऐसा आकाशगामी पंडित होकर भी आज तक पृथ्वी वेद की स्पष्ट परिभाषा न कर सका। शायद इसका कारण हो कि वह यजमान की (बीज) दक्षिणा को ग्रहण करना कभी नहीं भूलता।

नरेश के अनुसार ऐसी सामर्थ्य कवि के अतिरिक्त भला किस में है; कि अपनी स्मृति, संचित प्रमाण और साख्य के आधार पर किसी भी उजाड़ पिंड में रंग, वर्ण और

जैविक ध्वनियां रोप कर उसे गर्भवती बनाए और तब वह ग्रह पिंड मातृ देवी के रूप में अधिष्ठित हो।

"किस ने इस ग्रह के पृथ्वी में
हवाओं के घोष
जैविक ध्वनियां
वनस्पतियों की औषधता और
ऋतुओं के रंगवर्ण रोपकर
इसे गर्भवती बनाया"
"किसने इसे ग्रह पिंड वाली उजाड़ता से निकाल कर
धन-धान्य सम्पन्ना मातृ देवी से भी ऊपर
मातृदेवी के रूप में अधिष्ठित कर
ऋतुओं और संवत्सरों के अयन प्रदान दिए।"

(मातृदेवी पृष्ठ ३४)

वास्तव में कवि ही वह यात्री पुरुष तत्व है जिस में प्रकृति को पूर्णत्व प्रदान करने की क्षमता है।

ऊर्ध्वगामी कवि को निरन्तर दैवी आह्वान हो रहा है। वह धरती का ऐसा सक्षम कार्मिक बन्धु है जो नित्य का आह्वान सुन वैराट्य का आत्मीय वन उसको अभिव्यक्त करता है, अन्यथा विराट् स्वयं कभी अभिव्यक्त नहीं होता।

परन्तु पुरुष यात्रा में व्यक्ति भी कितना कृतघ्न हो जाता है कि :—

"किसी के प्रति कृतज्ञ होना ही नहीं जानते
न आम्रशाखा के प्रति ही आभारी हो
जो वृक्ष से प्रिया बनकर
तुम्हारी बांह की टेक बनने के लिए
कैसे पृथ्वी तक झुक आयी हैं।
न पंगडंडी के प्रति
न झरने के प्रति।"

काव्य सृष्टि को आश्वस्ति देने वाला वह यज्ञ है, जिस में छन्द (भद्र) को अवतरित करने के आह्वान के लिए शब्द रूपी अभिषेक जल, अक्षरों के अक्षत को अपनी छवि देनी पड़ती है, और मात्राओं और उच्चारणों की शब्दता को सरस्वती में परिणित करना पड़ता है। ऐसा काव्य ही विश्वात्म को वहन करता है।

कवि पुरुषार्थ करता मनुष्य है तो कविता स्वरूप पाती मृत्तिका। और दोनों का सम्बन्ध ही सबसे बड़ा देवत्व है।

"यह सबसे बड़ा देवत्व है कि
तुम पुरुषार्थ करते मनुष्य हो
और मैं स्वरूप पाती मृत्तिका।"

(मृत्तिका—पृ० ४४)

अरण्या केवल एक तरीके से कवि और काव्य की विवेचना ही नहीं उसमें सामयिक विश्व की प्रमुख समस्याएं भी उभरी हैं और वह है धरती के अस्तित्व की समस्या। नरेश के अनुसार अपनी समग्र मंगलकामनाओं और शुभ आकांक्षाओं के बावजूद इस काव्य यज्ञ के अमंगल फलप्रद होने की सम्भावना बनी है।

शायद इसीलिए नरेश सोचते हैं कि आज मनुष्य को इतिहास और राजनीति नहीं एक कविता चाहिए क्योंकि काव्य ही वह मन्त्रपूत शस्त्र हो सकता है जो शिखंडी इतिहास को एक स्वस्थ स्वरूप देकर उसे पुरुषत्व प्रदान करता है और तब इतिहास मनुष्यत्व का वहन करने लगता है।

"वह मनुषत्व जिससे ऋषित्व झलकता है :—
ऋषि भी मानवीय तत्व होता है
जो धरती को
अन्न रंग और गंध की भाषा में रच रहा हो
ऐसा मनीषी—
देश को नहीं—देशत्व को
काल को नहीं—कालत्व को और
मनुष्य को नहीं मनुष्यत्व को पदार्थिक दृष्टि से
नहीं देखता—

वह तो
मिट्टी में उगे गायत्री—व्यक्तित्व का ऋषि होता है—"
(नहीं है वह सर्वहारा—२४)

अरण्या वेद की प्रतीती-सी देती है केवल इसलिए नहीं कि उसमें गो, अश्व, पृथ्वी, सन्ध्या, सरमा, उबा, यौनी, देवता, धृत्सनु, यज्ञ, मरूत, दूर्वा, अहोरात्र, पुरुष आदि वैदिक शब्द प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु अधिक इसलिए कि केवल भाषा ही नहीं, भाव, कल्पना तथा शैली में भी वह वेदों के निकट पड़ती है।

ऋचाएं दृष्टाओं के जीवन की बड़ी घटनाएं थीं। कविता कवि के जीवन की सब से बड़ी घटना होती है। शायद अरण्या भी श्री नरेश के जीवन की सब से बड़ी घटना हो, पर इस सम्भावना की पुष्टि तो अरण्य से वापसी के बाद ही सम्भव है। पर अभी तो कालवृक्ष को ढूंढते हुए, वायुओं, पर्वतों, समुद्रों और ध्वनियों से पूछते हुए, कवि को लगा है कि—

इतिहासहीन अन्धी शताब्दियां
अन्धकार बनकर अपनी मुक्ति के लिए
अब भी आकुल दिख रहीं हैं...।"

और इसीलिए दिवस और रात्रि की प्रशाखाओं वाले कालवृक्ष को नरेश अभी ढूंढ रहा है।

अरण्या से लौटने के बाद इस अन्तहीन कालवृक्ष के निषेधों को लांघने की जिज्ञासा में कौन नई अनुभवहीन तुच्छ-सी हिलोर फिर निकल पड़े और कहां जा टकराएं हम अभी से क्या बताएं। □

['अरण्या' (काव्य) लेखक—नरेश मेहता। पृष्ठ ७०,
मूल्य : १५ रुपये। प्रकाशक—लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद]

सांस्कृतिक गतिविधियां

कवि सम्मेलन : उर्दू मुशायरों की धाक राजाओं, नवावों और साहबों के युग से रही है। सामंती परिवेश में परवरिश पाकर यह परम्परा अन्य भाषाओं में भी कवि-सम्मेलनों और कवि-दरबारों के रूप में पनपी है। आज के युग में कवि-सम्मेलन केवल सुरुचि-सम्पन्न अभिजात वर्ग की चीज़ न रह कर आम लोगों तक कविता पहुँचाने का माध्यम बन गया है। मुशायरे की इसी भूमिका को पहचान कर अकादमी वर्ष भर राज्य के शहरों-कस्बों-गाँवों में इनका आयोजन करती रहती है। १० जून १९८७ को जिला कठूआ के 'घगवाल' नामक गाँव में एक पुस्तक प्रदर्शनी तथा डोगरी कवि सम्मेलन किया गया। १५ जून को जिला उधमपुर के 'घोरड़ी' नामक गाँव में, १९ जून को ज़िला डोडा के 'बनिहाल' नामक कस्बे में तथा ३०-३१ जुलाई को 'किश्तवाड़' और 'डोडा' में कवि सम्मेलन किए गए। इन कवि सम्मेलनों की विशेषता यह है कि इनमें आम लोगों से लेकर उस क्षेत्र के विशिष्ट लोग पूरी तरह सम्मिलित होते हैं। कवि सम्मेलनों में उत्साहवर्धक उपस्थिति से कविता की लोकप्रियता का आभास सहज ही होने लगता है। बनिहाल वाले कश्मीरी मुशायरे की अध्यक्षता जनाब मरगूब बनिहाली ने की।

लोक संगीत : २० जून १९८७ को जिला कठूआ के सुदूर पर्वतीय स्थल 'बनी' में परंपरागत लोक-संगीत का एक कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया। इस गतिविधि का प्रमुख प्रयोजन लोक-संचार के आधुनिक माध्यमों के विकास से इस प्रकार की लोक-परम्पराओं को होने वाली हानि से सुरक्षित रखना है। फिल्म संगीत और नागर संस्कृति पुरानी परम्पराओं पर भारी पड़ रहे हैं। यह अन्देशा काफी जायज़ है कि नयी संस्कृति के सैलाब में हमारी युगों पुरानी लोक-परम्पराएं क्षण भर में बह न जाएं। सुदूर एवं दुर्गम क्षेत्रों में ऐसे कार्यक्रमों को करने के पीछे उन्हें प्रोत्साहित करके सुरक्षित रखने की वांछा कार्य कर रही है।

'बनी' में सम्पन्न कार्यक्रम में लोक-गायकों के आठ दलों ने हज़ारों श्रोताओं को अपने मधुर संगीत से मंत्र-मुग्ध करके इस बात के प्रति आश्वस्त किया कि इस परम्परा में निहित माधुर्य इस की आधारभूत शक्ति है तथा इसे सही प्रोत्साहन मिलने पर 'डिस्को संस्कृति' इसे नष्ट नहीं कर सकती।

२७ जून '८७ तथा २४ जुलाई '८७ को क्रमश: 'बसोहली' तथा ज्योतिपुरम' (रियासी) में गीत-संगीत के कार्यक्रमों का आयोजन किया गया। बसोहली में वहाँ के तहसीलदार तथा ज्योतिपुरम में सलाल प्राजेक्ट के कार्यकारी निदेशक श्री अब्दुल हमीद राणा प्रमुख अतिथि थे।

□